महाकविश्रीजगद्गुरुभद्रप्रणीतं

दीनाक्रन्दनस्तोत्रम्



व्याख्याकारः

आचार्यनलिनीकान्तमणित्रिपाठी

प्रकाशक —

भारतीय विद्या संस्थान

प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता

(सं० सं० विश्वविद्यालय, इलाहाबाद बैंक के समीप)

सी० २७/५९, जगतगंज–वाराणसी २२१००२

संस्करण–प्रथम :

संवत् २०४६ (सन् १९८९)

मूल्य—१५) रुपये

मुद्रक —

देवर्षि प्रेस

एस. ९/४०५ पंचक्रोशी रोड, नईबस्ती वाराणसी।

भूमिका

स्तोत्र-साहित्य संस्कृत-भारती का परम रमणीय अङ्ग है। यह अत्यन्त विशाल, सरस तथा हृदयस्पर्शी है। 'स्तोत्र' शब्द स्तुतिवाचक ष्टुञ् (अ०प०अ०) धातु से 'स्तूयतेऽनेन' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से करण अर्थ में (दाम्नी०-अ० सू० ३।२।१८२) ष्ट्रन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। 'स्तव', 'स्तुति', 'नुति', 'प्रशंसा' आदि शब्द इसके समानार्थक हैं। वस्तुगत्या भगवान् के प्रति भक्त की भावमयी अभिव्यक्ति भक्ति है और उसकी वाचिक उद्भावना ही स्तोत्र के रूप में परिणमित होती है। प्रत्येक धर्म में भक्त अपने हृदय की बातें भगवान् के सामने प्रकट करते तथा उनकी महिमा के वर्णन में अपने कोमल तथा भक्ति पूरित हृदय को अभिव्यक्त करता है, परन्तु संस्कृत के भक्त कवियों ने जिस प्रकार अपनी दीनता तथा भगवान् की उदारता का लोकोत्तर परिचय दिया है, वह सचमुच अप्रतिम है। हमारी समग्र वैदिक संहितायें देवताओं की विशिष्ट स्तुतियों से मण्डित हैं। स्तुति साहित्य का उद्गम स्थान स्वयं वेद ही हैं। हमारा भक्त कवि कभी भगवान् की दिव्य विभूतियों के दर्शन से चकित हो उठता है, तो कभी भगवान् के विशाल हृदय, असीम अनुकम्पा और दीन जनों पर अकारण स्नेह की गाथा गाता हुआ आत्मविस्मृत हो जाता है। जब वह अपने पूर्व कर्मों की ओर दृष्टि डालता है तब उसकी क्षुद्रता उसे बेचैन बना डालती है। जिस प्रकार बच्चा अपनी माता के पास मनचाही वस्तु के न मिलने पर कभी रोता है, कभी हँसता है और आत्मविश्वास की मस्ती में कभी नाच उठता है, ठीक यही दशा भक्तकवियों की है। वे अपने इष्ट देवता के सामने अपने हृदय का अनावृत कर देने में उन्मुक्त प्रवृत्त होते हैं। वे अपने हृदय की दीनता तथा दयनीयता को कोमल शब्दों में प्रकट कर सच्ची भावुकता का परिचय देते हैं। इन्हीं गुणों के कारण इन भक्तों के द्वारा विरचित स्तोत्रों में बड़ी मोहकता है, चित्त को पिघला देने वाली भारी शक्ति है।

महाकवि जगद्धरभट्ट

अपनी रागात्मिका प्रवृत्ति को जगत् के विषयों से बटोर कर एक सर्वान्तर्यामी के चरणों में जिसने समर्पित कर दिया है और एतत्प्रधान शास्त्र एवं काव्यसमुद्र में जिसने निमज्जन किया है ऐसे सत्कवि अंगुलिमेय हैं, जैसे व्यास,

वाल्मीकि, आदि। स्तुतिकुसुमाञ्जलि के प्रणेता महाकवि जगद्धरभट्ट का नाम संस्कृत के ऐसे ही भक्त कवियों में अत्यन्त श्रद्धा के साथ लिया जाता है। विशेकर शैवस्तोत्रपरम्परा में जगद्धर कनिष्ठिकाधिष्ठित कहे जा सकते हैं। जगद्धर काश्मीर देश के निवासी थे। काश्मीर कविता केसर और कामिनी की सुन्दरता के लिये प्रसिद्ध है। पहले काश्मीर भारत का प्रधान शारदापीठ था। कोई भी नयी रचना, जब तक उस पर काश्मीर के कवि और शारदा की दृष्टि-मुद्रा नहीं हो जाती थी, भारत के पण्डितों की मण्डली में आदर नहीं पाती थी। काश्मीर देश कविता की जन्मभूमि है। न केवल कविता की, अपितु प्रकाण्ड पाडित्य की जननी होने का भी उसे गर्व रहा है। वाग्देवतावतार आचार्य 'मम्मट' और प्रतिभाशाली वैयाकरणों में अग्रगण्य 'कैयट' जैसे मानव रत्नों का प्रादुर्भाव वहीं हुआ है। उसी आकर ने कविवर 'जगद्धर' को जन्म दिया है। जगद्धरभट्ट न केवल कवि थे, अपितु एक प्रतिभाशाली सहृदय महाकवि थे। इनका अन्तः करण बाल्यावस्था से ही भगवान् शङ्कर की आराधना में लगा था इस कारण सुधा-सहोदर शम्भु स्तवन के अतिरिक्त अन्य कोई काव्यग्रन्थ लिखने की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं हुई।

जगद्धर भट्ट ने 'स्तुति कुसुमाञ्जलि' के अन्तिम अंश में अपना परिचय दिया है। तदनुसार इनके पितामह का नाम 'गौरधर' और पिता का नाम 'रत्नधर' था। गौरधर भगवान् शङ्कर के अनन्य उपासक और समस्त शास्त्रों में पारङ्गत थे। उन्होंने यजुर्वेद पर 'वेदविलास' नामक भाष्य लिखा था, यह बात जगद्धर भट्ट ने स्वयं लिखी है—

अनन्तसिद्धान्तपथान्तगामिनः समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः

ऋजुर्यजुर्वेदपदार्थवर्णना व्यनक्ति यस्याद्भुतविश्रुतं यशः॥

(स्तु० कु० ३९–३)

रत्नधर भी बड़े मूर्धन्य विद्वान् और गुणनिधान थे। उनकी सूक्तियों को सुनकर सहृदय जन आश्चर्य से चकित हो जाते थे। जैसा कि अधोलिखित पद्य में कहा गया है—

सुतोऽभवद् रत्नधरः शिरोमणिर्मनीषिणामस्य गुणौघसागरः ।
यमाश्रिताह्वास्त सरस्वती हरेरुरः स्थलं रत्नधरं श्रितां श्रियम् ॥
उदारसत्त्वं विपुलं सुनिर्मलं प्ररूढमर्यादमगाधमाशयम् ।
प्रविश्य यस्य स्ववशा सरस्वती पदंबबन्ध स्थिरमम्बुधेरिव ॥
कपोलदोलायितकर्णभूषणं तरङ्गितभ्रू युगभङ्गुरालिकम् ।
सचेतसामर्धनिमीलितेक्षणं क्षणं वितन्वन्ति मुखं यदुक्तयः ॥
(स्तु० कु० ३९।४-६)

जगद्धर की बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी। तर्कशास्त्र में वह इतने निपुण थे कि उनके सामने प्रतिवादी मूक हो जाते थे : वे अतीव सहृदय, निर्मत्सर, मधुरभाषी और अतिशय विनीत थे। शास्त्रों का परिशीलन और कविता प्रेम उनकी वंश परम्परा से ही चला आता था। स्वयं जगद्धर के शब्दों में उनका परिचय इस प्रकार है—

अथास्य धीमानुदपादि वादिनां वितीर्णमुद्रो वदनेष्वनेकशः ।
उदारसंस्कारसुसारभारती पवित्रवक्त्राम्बुरुहो जगद्धरः ॥
अपि स्थवीयः स्वकृतस्थिरस्थितिः कुशाग्रतीक्ष्णामधिरुह्य यन्मतिम् ।
अहो बत स्वैरविहारलीलया पदं न्यधादस्खलितं सरस्वती ॥ इत्यादि ॥
(स्तु० कु० ३९।७-८।

स्थिति काल

जगद्धर का स्थितिकाल सन् १३५० ई० के लगभग माना जाता है। इसका कारण है कि इन्होंने अपने पुत्र 'यशोधरभट्ट' के पढ़ने के लिये एक व्याकरण ग्रन्थ भी लिखा है। वह है बालबोधिनी नामक कातन्त्रवृत्ति। उसके आरम्भ और अन्त में उन्होंने स्वयं लिखा है—

स्वसुतस्य शिशोर्यशोधरस्य स्मरणार्थं विहितो मया श्रमोऽयम् ।
उपयोगमियाद् यदि प्रसङ्गादपरत्रापि ततो भवेदबन्ध्यः ॥

तथा

इति मितमतिबालबोधनार्थं परिहृतवक्रपथैर्मया वचोभिः ।
लघु ललितपदा व्यधायि वृत्तिर्मृदु सरला बालबोधिनीयम् ॥

इस वृत्ति की एक संस्कृतटीका भी है। उसके रचयिता राजानक शिति-कण्ठ हैं। वह भी काश्मीर के अन्तर्गत पद्मपुर के रहने वाले थे और जगद्ध के दौहित्र की दौहित्री के पुत्र थे। यह बात शितिकण्ठ ने अपनी व्याख्या के आरम्भ में लिखी है—

यो बालबोधिन्यभिधां बुधेन्द्रो जगद्धरो यां विततान वृत्तिम्।
तन्नप्तृकन्यातनयातनूजो व्याख्यामि तां श्रीशितिकण्ठकोऽहम्॥

जिस समय काश्मीर प्रदेश का राज्य हैदरशाह के पुत्र हसनशाह के हाथ में था उस समय शितिकण्ठ ने यह व्याख्या लिखी थी। यह बात उन्होंने अपनी व्याख्या में स्वयं लिखी थी—

भूजानौ हस्सनाख्ये भुवमवति मया तन्यते ग्रन्थ एषः।

मुहम्मदशाह ने सन् १४५८ से सन् १५११ ईसवी तक गुजरात का और हसनशाह ने सन् १४७२ से सन् १४८४ ईसवी तक काश्मीर का राज्य किया इसी समय शितिकण्ठ ने जगद्धरभट्ट के ग्रन्थ की व्याख्या की। इसके सौ सवा सौ वर्ष पहले ही जगद्धर हुए होंगे क्योंकि राजानक शितिकण्ठ उनकी छठी पीढ़ी में हुए थे। अत एव अनुमान के आधार पर जगद्धर का स्थितिकाल सन् १३५० ई० निश्चित किया गया है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि

'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' संस्कृत साहित्य का एक अनमोल ग्रन्थ है। विशेषकर शैव स्तोत्र साहित्य में तो इसका स्थान सर्वोपरि है। यद्यपि गन्धर्वराज पुष्पदन्त का 'शिवमहिम्नः स्तोत्र' और पण्डितराज की 'गङ्गा लहरी' आदि स्तोत्र स्तुति साहित्य में अत्यन्त प्रतिष्ठित हैं, तथापि स्तुतिकुसुमाञ्जलि की अपनी विशेष पहचान है। इस महाकाव्य के रचयिता ने इसमें अपनी कवित्व शक्ति की पराकाष्ठा दिखा दी है। कविता अतीव सरल सरस तथा प्रसाद गुण युक्त है। उसमें अधिकांश पद्य करुण रस से भरे पड़े हैं। कवि ने ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदय द्रावक ढंग से अपने इष्ट देव को आत्मनिवेदन किया है कि कोमल अन्तःकरण वाले भावुक जन रोये विना नहीं रह सकते। प्रपत्ति के पुट ने तो इसे विश्वसाहित्य में शीर्षण्य बना दिया है। रस भाव गुण अलङ्कार आदि

काव्य सामग्री इसमें छलकती सी है। कविता में दो ही तत्त्व प्रधान होते हैं—शब्दों में माधुर्य और अर्थ में व्यङ्ग्यत्व। प्रकृत काव्य में ये दोनों ही तत्त्व पूर्णरूप से विद्यमान हैं।

स्तुति कुसुमाञ्जलि में ३९ सर्ग हैं। सर्गों का नामकरण तथा क्रमिक उपन्यास इस प्रकार है–१–स्तुतिप्रस्तावना स्तोत्र २–नमस्कार स्तोत्र ३–आशीर्वाद स्तोत्र ४–मङ्गलाष्टक स्तोत्र ५–कविकाव्यप्रशंसा स्तोत्र ६–हराष्टक स्तोत्र ७-सेवाभिनन्दन स्तोत्र ८–शरणाश्रयण स्तोत्र ९–कृपणाक्रन्दन स्तोत्र १०–करुणाक्रन्दन स्तोत्र ११–दीनाक्रन्दन स्तोत्र १२–तमः शमन स्तोत्र १३–प्रभुप्रसादन स्तोत्र १४–हितस्तोत्र १५–करुणाराधन स्तोत्र १६–उपदेशन स्तोत्र १७–भक्ति स्तोत्र १८–सिद्धि स्तोत्र १९–भगवद्वर्णन स्तोत्र २०–हसितवर्णन स्तोत्र २१–अर्धनारीश्वरस्तोत्र २२–कादिपदबन्धस्तोत्र २३–शृंखलाबन्ध स्तोत्र २४–द्विपदयमक स्तोत्र २५–रुचिरञ्जनस्तोत्र २६–पादादियमकस्तोत्र २७–पादमध्ययमक स्तोत्र २८–पादान्तयमक स्तोत्र २९-एकान्तरयमकस्तोत्र ३०–महायमकस्तोत्र ३१–नतोपदेशस्तोत्र ३२–शरणागतोद्धरण स्तोत्र ३३–कर्णपूर स्तोत्र ३४–अग्र्यवर्णस्तोत्र ३५–ईश्वरप्रशंसा स्तोत्र ३६–स्तुतिफलप्राप्तिस्तोत्र ३७-स्तुतिप्रशंसा स्तोत्र ३८–पुण्यपरिणामस्तोत्र और ३९–वंशवर्णन। स्तुतिकुसुमाञ्जलि की समुदित श्लोकसंख्या १४३९ है। महाकवि की गणना के अनुसार उन्होंने १४२५ श्लोक भगवान् सदाशिव को समर्पित किया है। जैसा कि उनका यह श्लोक द्रष्टव्य है—

निक्षिप्तं शतसप्तकेन सहितं पादायुतार्धं मया
निर्हिंसे गुणिनि द्विजेन्द्रमुकुटे धर्मैकधाम्नीश्वरे
प्रायेण क्लिशितस्य दीनवचसः क्ष्माक्षिप्तमूर्ध्नोऽपि मे
पादं नैकमयं प्रयच्छति विधौ वक्रे करोम्यत्र किम्

॥स्तु० कु० ३९।१४॥

यहाँ शतसप्तकेन सहितं पादायुतार्धम् का अर्थ ५७०० चरण है। अयुत का अर्थ दस हजार तथा पाद का अर्थ चरण होता है। इस प्रकार पादायुतार्धं का अर्थ ५०००चरण है। उसमें शतसप्तक अर्थात् ७००और जोड़ देने पर ५७००

चरण सिद्ध होता है। एक श्लोक में ४ चरण होते हैं। इस प्रकार ग्रन्थ की सम्पूर्ण श्लोक संख्या ५७००।४=१४२५ सिद्ध होती है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि के वर्तमान संस्करण की सम्पूर्ण श्लोकसंख्या महाकवि द्वारा कथित श्लोक संख्या से १४ अधिक है। सम्भव है कि कविवंशवर्णन नामक अन्तिम प्रकरण के कुछ (२) श्लोकों को छोड़कर शेष १४ का परिगणन महाकवि ने नहीं किया है। कविवंशवर्णन प्रकरण के परिगणित २ श्लोक स्तुतिपरक ही हैं।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि की टीकायें

'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' की दो टीकायें वर्तमान में उपलब्ध है १-लघुपञ्चिका नामक संस्कृत टीका और २-प्रेम मकरन्द नामक हिन्दी टीका। लघुपञ्चिका नामक संस्कृत टीका के रचयिता राजानक रत्नकण्ठ हैं। वे भी काश्मीर के ही निवासी थे। वे बड़े ही विद्वान् और भगवान् सदाशिव के भक्त थे। उन्होंने विक्रम सम्वत् १७३८ में स्तुति कुसुमाञ्जलि की यह टीका बनायी थी। यह बात उन्होंने अपनी टीका में स्वयं लिखी है—

वस्वग्न्यत्यष्टभिर्वर्षे मिते विक्रमभूपतेः,
अवरङ्गमहीपाले कृत्स्नां शासति मेदिनीम्।
बालानां सुखबोधाय हर्षाय विदुषां कृता
जगद्धरकवेः काव्ये तेनैषा लघुपञ्चिका॥

इस टीका से विदित होता है कि इसके अतिरिक्त प्राचीन अन्यान्य विद्वानों ने और भी कई संस्कृत टीकायें इस पर लिखी थीं। प्रस्तुत टीका में राजानक रत्नकण्ठ ने कई स्थलों पर कई टीकाओं का उद्धरण देते हुए लिखा है कि— 'इति प्राचीन टीका', 'इति प्राचीनटीकायाम्' इति प्राचीनादर्श टीका, 'इति जितेन्द्रियकृतटीकायाम्' इत्यादि। परन्तु इस समय इस महाकाव्य की एक यही संस्कृत टीका उपलब्ध है।

दूसरी टीका प्रेम मकरन्द नामक हिन्दी टीका है इसके रचयिता वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्रविभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री प्रेम बल्लभ त्रिपाठी जी हैं। स्तुति कुसुमाञ्जलि की प्रेम मकरन्द टीका का प्रथम संस्करण

सन् १९३८ में प्रकाशित हुआ था इसका द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय काशी से सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ।

"दीनाक्रन्दन स्तोत्र"

दीनाक्रन्दन स्तोत्र 'स्तुति कुसुमाञ्जलि' का एकादश स्तोत्र है। 'दीनाक्रन्दन इस नामकरण से ही यह स्पष्ट है कि महाकवि ने इस ग्रन्थ में दीन आक्रन्दन अर्थात् करुण विलाप किया है। यद्यपि स्तुति कुसुमाञ्जलि के सभी स्तोत्र सरस तथा सरल हैं तथापि प्रकृत स्तोत्र में करुण रस का समुद्र ही आप्लावित हो रहा है। जगद्धर को यह विश्वास है कि लालित्य और औचित्य आदि सत्काव्य के लक्षणों से हीन भी दीन आक्रन्दन दयालु प्रभुओं को द्रवित करने में जितना समर्थ होता है उतना प्रकाण्ड विद्वानों की महाप्रतिभाशाली प्रोढोक्तियों के सन्दर्भ से युक्त रचनाओं वाले वाग्जाल से कदापि नहीं होता।

दीनैर्विमुग्धवचनैरसमञ्जसार्थैर्यद्वद् द्रवन्ति हृदयानि दयानिधीनाम्
तद्वन्न दृष्टसभसप्रतिभप्रगल्भसन्दर्भगर्भरचनाञ्चितवाक्प्रपञ्चैः ॥

महाकवि का आक्रन्दन तो अत्यन्त दीन है ही साथ ही रस छन्द अलङ्कार गुण आदि उच्चतम स्तर के काव्य के लक्षणों से युक्त होने के कारण अनुत्तम काव्य है। हृदय की स्वच्छता के साथ काव्यकुशलता ने सोने में सुगन्ध का काम किया है। वक्रोक्ति श्लेष, विरोधाभास अनुप्रासादि की छटा प्रकृत काव्य में पदे पदे दर्शनीय है। जगद्धर ने अनन्त चिन्ता जालों से अहर्निश वृद्धिंगत व्यामोह से खिन्न मन से यह दीन आक्रन्दन किया है। ग्रन्थ के अन्त में उनका यह आत्म-निवेदन पूरे ग्रन्थ के विषय तथा प्रयोजन को एक साथ कहने में समर्थ है—

इत्थं तत्तदनन्तसन्ततलसच्चिन्ताशतव्यायत—
व्यामोहव्यसनावसन्नमनसा दीनं यदाक्रन्दितम्
तत्कारुण्यनिधे निधेहि हृदये त्वं ह्यन्तरात्माविलम्
वेत्स्यन्तः स्थमतोऽर्हसि प्रणयिनः क्षन्तुं ममातिक्रमम् ॥

हे प्रभो! इस प्रकार अनन्त चिन्ता जालों से अहर्निश वृद्धिगत व्यामोह से खिन्न मन से मैंने आपके सामने जो यह दीन आक्रन्दन किया है, हे करुणा सागर

इसे आप अपने हृदय में रख लीजिये। यतः आप अन्तर्यामी हैं, हृदय के सभी भावों को जानते हैं इस लिये नाथ ! मुझ दीन शरणागत के इस प्रागल्भ्य युक्त उक्ति को क्षमा कर सकते हैं।

वर्तमान संस्करण

दीनाक्रन्दन स्तोत्र की पूर्वोक्त विशेषता से आकृष्ट होकर "आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः, एका क्रिया द्व्यर्थंकरी प्रसिद्धा" इस उक्ति के अनुसार विश्वनाथ भगवान् शङ्कर के पाद-पद्मों में अपनी प्रथम कृति को निवेदित करने तथा राष्ट्रभाषा के माध्यम से जगद्धर को जनसामान्य तक पहुँचाने के लोभ से इस ग्रन्थ रत्न पर 'शशिप्रभा' नामक अन्वय एवं पदार्थविवृत्ति के सहित हिन्दी-व्याख्या लिखी गयी है।

कहाँ जगद्धर का सिद्ध कवित्व प्रवाह और कहाँ मेरी अनभ्यस्त लेखनी ? महाकवि कालिदास की—'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्—' इस उक्ति के अनुसार इस दुष्कर कार्य के लिए मेरी प्रवृत्ति को यद्यपि उडुपप्रयास कहा जा सकता है। तथापि—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥

इस अग्रिम उक्ति का सम्बल लेकर यह लघु प्रयास सहृदय पाठकों की सेवा में निवेदित किया जा रहा है।

मैं इस सत्कार्य के सम्पादन हेतु प्रेरकतत्त्व के रूप में भगवान सदाशिव का कृपालवप्रसाद ही मानता हूं जिसने मेरी अकिंचन बुद्धि को इस प्रकार शिवेतरक्षति के लिये प्रेरित किया है तथा अपनो सेवा में इस सत्पत्र को निवेदित करने का मुझे सौभाग्य प्रदान किया है।

अपनी प्रातः स्मरणीया पूज्या माता (श्रीमती चम्पा देवी) के अजस्र स्नेह और प्रोत्साहन के लिए मैं नतमस्तक हूं। जिन्होंने मेरे साथ काशी में रहते हुए इस सत्कार्य में सहयोग किया है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में साहित्य प्राध्यापक प्रख्यात विद्वान एवं सुकवि श्रद्धेय गुरुदेव आ० शिव जी उपाध्याय ने (पुरोवाक्) लिख कर तथा 'विशेष' नामक स्तम्भ में शास्त्रीय विचार देकर मुझ पर अपार कृपा की है, मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व व्याकरणविभागाध्यक्ष राष्ट्रपतिसम्मान से विभूषित प्रातः स्मरणीय गुरुदेवः आचार्य पं० राम प्रसाद त्रिपाठी एवं वर्तमान व्याकरणविभागाध्यक्ष श्रद्धेय गुरुदेव प्रो० रामयत्न शुक्ल जी का मैं जीवन भर ऋणी रहूँगा जिन्होंने शब्दविद्या प्रदान कर तथा सद्ग्रन्थ लेखन का आशीर्वाद देकर मुझे कृतार्थ किया है।

अन्त में 'भारतीय विद्या संस्थान' के संचालक श्री कुलदीप जैन जी को आभार प्रदर्शित करता हूँ। जिन्होंने मेरे अनुरोध पर इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार सहर्ष अपने ऊपर लिया तथा उसे सकुशल सम्पादित किया है।

काशी
गङ्गादशहरा सं० २०४६

विद्वत्पदाम्बुज चंचरीक
नलिनीकान्तमणि त्रिपाठी

पुरोवाक्

दीनाक्रन्दनस्तोत्ररत्नं प्रत्नमनुत्तमम् ।
जगद्धरकृतं भाति जगद्धरपदाश्रितम् ॥

गीर्वाणवाणीप्रमाणीकृतात्मसंवरणप्रणयनप्रेमातिशयभक्त्यनुरक्तिलोकानासक्तिनिजेष्टदेवचरणार्पणभावभूयिष्ठस्तुतिकाव्यवैशिष्ट्यभाजां संसृतिसमुद्धृतिविरक्तिभोग्यवस्तुजातनिःसारतोपपादकोपपत्तिभगवदङ्घ्रिकंजकिञ्जल्कमञ्जुरागानुरञ्जितहृदिन्दिन्दिरायमाणकवीन्द्रसम्राजामनाद्यनन्तप्रशस्तपरम्परोपात्तमनुत्तमं तत्र तत्रोपच्छन्दितं निगुम्फितं पद्यानवद्यप्रसूनप्रभूतसौरभ्यभूषितमनाविलमनल्पमतुल्यमाल्यमिव स्तोत्रस्तोमस्तुत्यसाहित्यमुद्द्योतते । यादृगतितरां निरतिशयनिरनुशयनिष्कलुषमानसोद्भवदमन्दानन्दसन्दोहसन्दोहनप्रवणोदात्तभावनोल्लाससन्दब्धमनामयं विशदविविधेष्टदेवतोद्देश्यकप्रशस्यानेकविषयोपगूढनिगूढतत्त्वोच्चयं स्तुतिवाङ्मयं विशालवर्ष्मंशालि सुरशेमुषीकसाहित्यवर्त्मनि वर्तते न तादृगन्यत्र कुत्रचिदपि विश्वस्मिन् विश्वायतननिकेतनोन्नीतप्रणीतभाषान्तरोपनिबद्धकाव्यकदम्बकेषूपलभ्यते । तदेतदनुपमं सुविशालतममतुल्यमूल्यमनाहार्यंहृदयधार्यमवार्यप्रतिमानमवदानं स्तोत्ररत्नपरिक्लृप्तमाहात्म्यमेदुरं पवित्रतमस्तोत्रसन्दर्भसम्भृतं सम्भ्राजते सुमधुरसूक्तिसम्भारसभाजिते सुरभारतीभारतेऽस्मिन् भारते नामार्यावर्तदेशे विशेषशेमुषीकाणां महात्मभक्तमहाकविमहेच्छानामिति ।

अमुष्मिन्नेव चिरपरिचितोचितोच्चविकचितोत्तमस्तोत्रस्तोमसन्दर्भे काश्मीरकमहाकविजगद्धरकृतमकृतकप्रातिभकवित्वकलोच्चितकान्तपदावलोकोन्मिषदमन्दहृदयानन्दस्यन्दिस्वात्मसमर्पणोल्लासविकसदशेषक्लेशप्रहणक्षममिदं सहृदयमनःपीनानन्दजननं दीनाक्रन्दनं नाम स्तोत्ररत्नमयत्नमेव सचेतसां चारुचेतश्चमत्कृतिमातन्वानमन्वहमतन्द्रसान्द्रसौन्दर्यसोदर्यसौहार्द्रस्नेहसिक्तसमुच्चायकमनुक्षणविलक्षणमक्षुण्णकल्याणकृदध्वनीनजनमनोरञ्जनावर्जनास्वादनोपासनोपान्तकृतोपायनमिव चिरनवीनायमानमजस्रभक्तिरसस्रोतोऽवगाहनाय सुपर्याप्तमाप्तप्रीतिप्रातमतिमतिशयमाकर्षदतिशेते स्तुत्यन्तरकाव्यसरणिरामणीयकमिति मनागपि सन्दिहानमनाः कोऽपि सुमना न स्यादेतदन्तरालोचनोन्मीलितान्तरालोचनः कदाचिदिति सुदृढं प्रतीमः ।

समग्रोदग्रोर्जस्विविकस्वरतत्त्वप्रबोधोद्बोधकनिसर्गकाव्यादिसर्गमूलस्रोतःश्रुतिरिति धिया स्तुतिसाहित्यमपि श्रौतनिर्दिष्टसंश्लिष्टब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्राग्निप्रभृतिदेवताकप्रोक्तनैकोदात्तसूक्तसमुद्भूतमिति मन्तव्यमास्थावतां विपश्चितां निर्विचिकित्समास्थेयमास्थानविद्भिः सद्भिः सुहृद्भिः। समस्तप्रस्तुत्यस्तुत्यादिभारतीयकाव्यादिप्रस्तुतिः श्रुतिसम्भूतिरित्यास्तिकानामभिमतं मतम्। न केवलमद्यत्वे प्रत्युतानादित्वेन प्राचामर्वाचाश्चाभयेषां विदुषामेषाऽवधारणा नावधीरणासरणिमानीता केनापि केनचिदप्युपायेन सन्नाहेन वा वैमुख्यापादकेन प्रकारेण वेति निश्चप्रचमाचक्ष्महे।

श्रुत्यनुरोधाद् वा भक्त्यनुरक्तिदैवतपरासक्तिवशाद् वा साहित्यसृष्टेरनुपदोऽयं पन्थाः कश्चनाविष्कृतः संस्कृतवाङ्मये भक्तशिरोमणिभिः कविमनीषिभिरित्यत्र नास्ति संशीतिलेशः। इममेव पन्थानमनुरुन्ध्य निजेष्टदेवाधिदेवं महादेवं शिवमस्तौत् सोऽयं जगद्धरो नाम परममाहेश्वरो महाकविरस्मिन् दीनाक्रन्दननाम्नि स्तोत्ररत्नोत्तमे। नाम्नैवेदं स्तोत्रं खलु किमपि विशिष्टं स्वसमर्पणमाहात्म्यमुरीकुरुते। यादृशभावनोद्गीर्णमुदीर्णहार्दसौष्ठवम् पदतदर्थसार्वसौन्दर्यम्, नानाभङ्गीभणितिकृतप्रणतिप्रणयोद्वेलनम् च प्रेमोन्नीतसत्प्रीत्युपस्कृत्युपालम्भात्मनैवेद्यहृद्योद्गारप्रकटीकारप्रकारेण भक्तकविवरेण समुपासितात्मनिष्ठभगवज्जगद्धरेण सद्भावसदश्रुपूरप्रोतस्तोत्रगिरा दीनमाक्रन्दितमस्मिन्नन्वर्थाभिधाने दीनाक्रन्दने नाम स्तोत्रप्रकरणे, न तादृशमन्यत्र कुत्रचिदुपलभ्यते निरतिशयलोकोत्तरमात्मनिवेदनात्मकं निजेष्टतादात्म्यनिरूपणम्। उक्तसन्दर्भसन्दर्शनपराणि कानिचन पद्यानि पर्यालोचनीयानीति कृत्वा प्रस्तूयन्ते। तथाहि भक्तशिरोमणिना महाकविना भगवतो विश्वाधिपतेर्विभोरौदार्यातिशयं दर्शयतोच्यते—

यो मूर्धनि ध्वनदनर्गलनिर्झरौघझाङ्कारिणीममरनिर्झरिणीं दधानः।
गृह्णाति भक्तजनतः कलशाभिषेकं कस्तं न विज्ञपयितुं विभुमुत्सहेत॥

अत्रास्मिन् पद्ये विभोर्वैभवं सानुप्रासव्यतिरेकवैशिष्ट्यप्रकर्षमुपवर्णयता कविना तदीयहृदयनिष्ठभक्तजनानुग्रहोदात्तमहत्त्वमनन्यसामान्यमुन्मीलितम्। यश्चामरनिर्झरिणीमनर्गलनिर्झरौघध्वानोद्भासिनीं मूर्ध्न्यादधानो निरन्तरनिर-

पेक्षितान्यसलिलाभिषेकः सन्नपि भक्तजनोपहृतं सभक्तिश्रद्धं कलशाभिषेकं सदयं गृह्णाति स विभुर्भगवान् महेशः निष्कारणकारुण्यकरणौदार्यप्रदानपूर्वमपूर्वमनुगृह्णाति भक्तजनानिति विभुविभवोद्भूतप्रभूतभावभूयिष्ठमत्मानिष्ठभक्तिसम्पृक्तकवित्वकौशलेन कविवर्येण प्रादर्शि। अन्यच्चैतत्र विमुग्धनिर्व्याजसहजहृदयोद्गारपूर्णवचनोपन्यासेन न्यक्कृतवाग्वैदग्ध्यसयुक्तिविद्वदुक्तिसन्दर्भेण दयार्द्रचेतसां सुमनसां मनांस्यावर्जितानि यथा भवन्ति न तथा प्राञ्जलविशिष्टप्रकारकपदकदम्बकेनेति प्राकृतिकप्रणयप्रशस्तिमुपन्यस्यता स्वाहर्जिकस्तुमाहात्म्यं प्रस्तूयते महाकविना —

दीनैर्विमुग्धवचनैरसमञ्जसार्थैर्यद्वद्द्रवन्ति हृदयानि दयानिधीनाम्।
तद्वन्न दृष्टसभसप्रतिभप्रगल्भसन्दर्भगर्भरचनाञ्चितवाक्प्रपञ्चैः॥

अनेन पद्योदितेन विवक्षितवचोविशेषेण दयानिधीनां स्वेष्टदेवानामीश्वराणां हृदयद्रवणं दीनतयाऽजस्रसास्रनिर्बन्धमुग्धस्निग्धाक्रन्दनेनैव जवेन जायते, तदर्थमत्यर्थंसार्थं समञ्जससप्रतिभसभोचितप्रगल्भयुक्तिगर्भसुष्ठुसन्दर्भसृष्टिसमुदाञ्चितो वाक्प्रपञ्चो वैयर्थ्यमाप्नोतीति समुदीर्य तेन भक्तोत्तमेन कवीश्वरेण स्वाभाविकस्तोत्रसौष्ठववैशिष्ट्यप्रकाशनेन सहैव स्वकृतदीनाक्रन्दनस्तोत्रमित्यस्य नामौचित्यप्रयोजनसार्थक्यमपि प्राकाशीति सुधीभिर्निपुणं विभावनीयम्। अनुप्रासोपमाद्यलङ्कृतिवितानं त्वस्य महाकवेः प्रकृत्योपायनमिव प्रत्येकहृद्यपद्यमनवद्यमनायासमनुविन्दतीति विलक्षणमनन्यसामान्यमस्य कवित्वकौशलस्य वैशिष्ट्यमुज्जृम्भते।

क्वचिदात्मनिवेदनम्, क्वचिदच्छलोच्छलत्स्वच्छहृदुच्छ्वासनिर्गलदनर्गलभावनोद्भावनम्, क्वचिदारम्भोपालम्भसन्दर्भवचनोपन्यसनम्, क्वचिद्दैन्यहैन्यकृतप्रणतिप्रत्यावेदनम्, क्वचिदखर्वगर्वोद्वहनम्, क्वचिदम्लानमनः सुमनस्ततिप्रस्तुतिप्रणयनमित्यादिनानाविधैः स्वकीयैर्दीनभावाक्रन्दनैरनेन भक्तकविमूर्धन्येन स्तोत्रेऽस्मिन् निजेष्टदेवो भगवान् शिवः संस्तुतः प्रस्तुतश्च। एष खलु भक्तकविवरः काव्यकलोल्लासैः केवलं भक्तिप्रवणभावप्रधानसाहित्यमेव ससर्ज न तु काव्यमहाकाव्यान्तरं किमप्यनेन प्राकारि, परमस्यैकं स्तुतिकाव्यं निबन्धप्रबन्धोत्तमशीर्षण्यस्थानमापन्नं महाकाव्यकलामप्यतिक्रम्य किमप्यनाकलनीयं निरतिश-

यकामनीयकमातनोतीत्यत्र कस्यापि सहृदयसमीक्षकस्य न स्याद् विसंवादः। अनेन प्रणीतः स्तुतिकुसुमाञ्जलिर्नाम नवत्रिंशत्स्तुतिकाव्यसमुच्चयसन्दृब्धः संस्कृतसाहित्ये कामपि महनीयां भक्तिसौरभभूरिभास्वरविकस्वरकाव्यस्वरोद्भासिसुमस्रगनन्तसुषमामाविष्करोति। तेष्वेव संस्तुतस्तुतिकाव्येष्वेतदुच्चैस्तरमुदीतमेकान्तभक्तिभावनोदान्तकान्तं दीनाक्रन्दनं नाम प्रस्तुतं स्तोत्ररत्नम्। वसन्ततिलकच्छन्दोबद्धमनिन्द्यनिसर्गं सिद्धकवित्वप्रातिभप्रकृष्टकौशल निदर्शनमिदं सुधियां सुहृदां भक्तिभाजां सज्जनानाञ्चातिस्पृहणीयमादरणीयमन्तरास्वादनीयञ्चास्तीति-निर्विचिकित्सं विश्वसिमः।

एतादृशस्यास्य विशिष्टस्तोत्ररत्नस्य प्रतिपदं विवृतिविशेषसन्निवेशपुरस्सरं शशिप्रभाख्यां राष्ट्रभाषाकृताभिख्यां व्याख्यां विधाय शिष्टप्रतिभानवता पदप्रामाण्यवेदिना निर्दुष्टबोधवैशिष्ट्यसुप्रतीतसन्मतिनाऽऽयुष्मता श्रीनलिनीकान्तमणित्रिपाठिना काशीस्थसम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य सरस्वतीभवनपुस्तकालये पाण्डुलिपिनिरीक्षकपदमधितिष्ठता नूनमुपकृतं पुष्टीकृतमलङ्कृतं च विपुलतमसंस्कृतसाहित्यस्य किञ्चिदन्यहिन्द्यनन्यभाषीयविशिष्ट-क्षेत्रमित्येष विशेष साधुवादसम्मानशुभाशंसनार्हः सुरशेमुषीमतां सुधीमतामित्यहमेनं विद्वत्सभाजनमभिवर्धयन्नमुष्य विशिष्य भविष्यदुत्कर्षप्रकर्षमभिलषामि। किञ्चाग्रेऽपि प्रत्यग्रनवनवोत्तमसाहित्यसर्गसंसर्गसंसक्तशेमुषीको यशोभूषितो भवेदेष निर्मलप्रज्ञो वर्धिष्णुधिषणो मनीषिणामभिमतं पन्थानमालम्ब्य विभायादिति भवानीशं विभुमभीक्ष्णमनुक्षणमभ्यर्थये।

काशी	शिवजी उपाध्यायः
रामनवमी सं० २०४६	सं० सं० वि० वि०

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
अज्ञोऽसि किं	१०३
अत्यन्ततीक्ष्ण	५७
अत्यन्तदुर्भंग	७२
अत्युन्नतान्निज	३९
अत्यूष्मलं	४६
अन्वग्रहीरमल	५०
अभ्युद्गमो	६६
अभ्रान्तवृत्ति	८८
अस्मादृशम्य	४१
अस्मादृशैरशुचि	११
अस्यामसह्यविरह	२०
अहो तत्त्वज्ञोऽहं	१२५
आः किं न रक्षसि	१०२
आक्रन्दमिन्दुधर	१०
आजन्म कर्म	१२३
आप्यायनं सुमनसां	४८
आराधिताः	७४
आर्तिः शल्यनिभा	१३९
आर्तिः श्रुतैव	१११
आवर्जनं क्रतुभुजां	८५
आसीद्यावदखर्वं	१३४
इत्थं तत्तदनन्त	१४३
इत्यादि दूढ्य	१०५
उदञ्चय मुखं	१२९
एकस्त्वमेव	७१
एका त्वमेव	१७

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
एतां निसर्गसरलां	१८
एषा निसर्गकुटिला	२५
कण्ठे विषं	९७
कर्णे क्षणाद	११९
कामस्त्वयीव	९४
किं कार्यमेभि	१०८
किं भूयसा यदि	२३
किं वर्णयामि	८२
किं शक्तेन न यस्य	१३७
केचिद्वरस्य	८७
कोटिः परामुपगते	५६
कौटिल्यमिन्दुदलतो	८१
क्रन्दाम्यतः	९
क्रूरः पराङ्मुख	५५
क्वाप्यन्यजन्मनि	३१
क्षामो निकामजडिमा	४२
क्षीणः क्षताखिलकलः	९०
गृह्णासि मूर्धनि	२२
घोरान्धकारविधुरं	९१
चन्द्रः करे शिरसि	८०
चौरैर्गृहीतमपि	११३
जात्यन्धः	१३५
जानन्नपीति	११०
जानामि नामृतमयं	८९
जानुभ्यामुपसृत्य	१४१
जाने कथाञ्चि	५
जिह्वासहस्रयुगलेन	५२

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
ज्ञात्वाथ	५८
तज्ज्ञो	११५
तत्साम्प्रतं	७७
तस्मात्समाप्त	३४
तृष्णा दिनाद्दिन	७५
तेनात्र मां	४९
त्रस्तः समस्त	१२०
त्राता यत्र न	१३६
त्वं चेत् प्रसादसुमुखः	१०९
त्वं निर्गुणः शिव	९३
त्वामेव देवि शरणी	२६
त्वां नीतिमान् भजति	३५
दग्धोऽस्मि	८
दिङ्मागमात्र	११६
दीनैर्विमुग्ध	१३
दुग्धाब्धिदोऽपि	१४
दुर्गं यत्सुगमत्वमेति	१३१
दृप्तेषु ते	८६
देवि प्रपन्नवरदे	२७
द्वारि श्रीश्च सरस्वती	१३२
द्वेषः किमेष	१०४
धत्ते पौण्ड्रकशर्करा	१४२
धन्योऽस्मि दुःसह	२
धन्योऽस्मि मोह	३
धन्योऽस्मि सम्यग	१
नाथ प्राथमिकं	१३३
निर्भर्त्सितक्रतुमृगं	१२१

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
निष्कर्ण एष	५१
न्यग्भावितद्विज	५९
पद्माश्रितः	१२२
पश्चात् पुरः	१०१
पापः खलोऽयमिति	३७
पापग्रहो धृतिमुपैति	४४
पृष्ठे भवन्तमुद्वहते	५४
प्रस्तौति निस्त्रपतया	१९
प्राक्चेन्मया	३०
बालावुभौ द्विजपती	६४
भक्तप्रियः	६८
भालानलं तव यथा	२९
भालेऽनलं तव गले	७०
भीते भवार्तिविधुरे	१०६
भूताभिभूतमपि	११४
भृङ्गारे	१३८
मत्वाथ नाथ	६०
मातः सरस्वति	२४
मानुष्यनावमधिगम्य	३२
मार्जारशूकर	११८
मित्रत्वमेष भवतो	४५
मुक्त्वा समाधि	७३
मुहुः किमपरं	१३०
मूर्तिस्तवेव	९६
यच्चाटुचापल	६
यत्सत्यवत्यपि	१५

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
यद्बन्धुजीव	१७
यद्वा न मग्ध	१२
यद्वद् विभो	९५
यन्नामपामर	११२
यस्ते ददाति	७९
युक्तं रिपौ सुहृदि	६५
येषामेषा तनुधनलव	१२८
यो मूर्धनि	७
विद्याविहीन	१००
विश्रान्तिर्न क्वचिदपि	१२७
विस्रम्भमम्भसि	७८
व्यक्तिर्न यस्य	९२
शान्ताकृतिः	४३
शृङ्गी यत्र स्फटिकशिखरी	१२६
शृङ्गी विवेकरहितः	५३
श्मशानैक	१२४
श्वेते	८४
सञ्जीवनौषधि	४

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
सत्यं कलां वहसि	२१
सर्वज्ञ शम्भु	८३
सर्वज्ञ सर्वमव	६९
सर्वापहाररति	६१
स्तम्भं विजृम्भयति	७६
स्थाणुः स यत्र	११७
स्वर्भानुगीर्ण	९८
स्वापः सचिन्तमनसो	३६
स्वामिन्निसर्गं	१०७
स्वामिन् मृडस्त्व	६७
स्वामी प्रसाद	३३
स्वेच्छाविकल्पित	२८
स्वे धाम्नि मे हृदि	१६
स्वैरेव यद्यपि	३८
हन्तायमार्तिमपि	४०
हस्तं सदा वहति	६२
हालाहलाक्त	९९
हेयाऽस्म्य	६३

॥ श्रीः ॥

महाकविजगद्धरप्रणीतं

दीनाक्रन्दनस्तोत्रम्

शशिप्रभाहिन्दीव्याख्यया संवलितम्

धन्योऽस्मि सम्यगमृतं किमपि स्रवन्ती
सञ्जीवनं भगवती विदधाति यस्य ।
स्नेहस्नुतस्तनयुगा जननीव जीव—
रक्षार्थमार्तिविधुरस्य ममोक्तिदेवी ॥१॥

अन्वयः—[शिशोः] जीवरक्षार्थम् [किमपि अमृतम् सम्यक् स्रवन्ती] स्नेहस्नुतस्तनयुगा जननी इव किमपि अमृतं सम्यक् स्रवन्ती भगवती उक्तिदेवी आर्तिविधुरस्य यस्य मम सञ्जीवनं विदधाति । [सः अहम्] धन्यः अस्मि ।

पदार्थः—[शिशोः=शिशु (छोटे बालक) की] जीवरक्षार्थम्=प्राणरक्षा के लिये । [किमपि=किसी (विलक्षण) अमृतम्=अमृत को । सम्यक् स्रवन्ती= यथावत् स्रवित करती (टपकाती) हुई]। स्नेहस्नुतस्तनयुगा=स्नेहेन स्नुतं स्तनयुगं यस्यास्तादृशी स्नेहवश स्रवित होते (बहते) हुए दोनों स्तनों वाली । जननी=माता । इव=के समान । किमपि=किसी (विलक्षण, अनिर्वचनीय) अमृतम्=अमृत को । सम्यक् स्रवन्ती=यथावत् टपकाती हुयी । भगवती । उक्ति- देवी=वाणी (वाग्देवता) । आर्तिविधुरस्य=दुःखपीडित । यस्य=जिसका । मम= मेरा । सञ्जीवनम्=सञ्जीवन (आप्यायन) । विदधाति=करती है । सः=वह । अहम्=मैं । धन्यः अस्मि=धन्य हूँ ।

श्लोकार्थः—जैसे पुत्रवत्सला माता अपने बालक की प्राणरक्षा के लिये स्नेहवश स्तन युगल से दिव्य अमृत (दुग्ध) को टपकाती है, वैसे ही किसी विलक्षण (अलौकिक) अमृत को स्रवित करती हुई भगवती वाग्देवता जिस मुझ आर्तिपीडित (व्यक्ति) का सञ्जीवन कर रही है, वह मैं धन्य हूँ ।

विशेषः—दीनाक्रन्दन स्तोत्र में आरम्भ से लेकर श्लोक सं० १२३ तक के सभी पद्यों में "वसन्ततिलका" छन्द है । जिस पद्य के प्रत्येक चरण में तगण,

भगण, दो जगण, दो गुरु हों उसे 'वसन्ततिलका' कहते हैं। भट्ट केदार विरचित वृत्त रत्नाकर में इसका लक्षण इस प्रकार है —

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः"

उदाहरण के लिये ग्रन्थ के आदिम श्लोक का प्रथम चरण द्रष्टव्य है—

त	भ	ज	ज	गु	गु
ऽऽ।	ऽ।।	।ऽ।	।ऽ।	ऽ	ऽ

"धन्योऽस्मि सम्यगमृतं किमपि स्रवन्ती"

इस वसन्ततिलका छन्द को ही काश्यपमुनि ने 'सिंहोन्नता' सैतव मुनि ने 'उद्धर्षिणी' और राम ने 'मधुमाधवी' कहा है।

इस पद्य में उपमालंकार तथा आत्मधन्यता मूलक भाव ध्वनि है। सम्पूर्ण ग्रन्थ विश्वेश्वर भगवान् शिव की स्तुति के लिये है, अतः देवादिविषयक रति भावध्वनि है।

धन्योऽस्मि दुःसहविपत्पतितस्य यस्य
वाणी धृतोन्नतिरपुण्यकृतामभूमिः।
कल्याणिनी सुमनसामुपसेवनीया
सौमेरवीव पदवी न दवीयसीयम् ॥२॥

अन्वयः—सौमेरवी पदवी इव इयम् धृतोन्नतिः अपुण्यकृताम् अभूमिः; कल्याणिनी सुमनसाम् उपसेवनीया वाणी दुःसहविपत्पतितस्य यस्य दवीयसी न, [सः अहम्] धन्यः अस्मि।

पदार्थः—सौमेरवी=सुमेरु (पर्वत) की। पदवी=स्थिति। इव=के समान इयम्=यह। धृतोन्नतिः=धृता उन्नतिः शब्दार्थौद्धत्यं यया तादृशी—(शब्द और अर्थ की) उन्नति को धारण करने वाली। अपुण्यकृताम्=पापियों की (के लिये)। अभूमिः=अगम्य, अप्राप्य। सुमनसाम्=विद्वानों के (द्वारा) सेवनीया=सेवन करने योग्य (और) कल्याणिनी=मङ्गलवती। वाणी। दुःसहविपत्पतितस्य=दुःसहा या विपज्जन्मजरामरणत्रासरूपा आपत्, तत्र पतितस्य—(जन्ममरणरूपी) दुःसह (कठिन) विपत्ति में पड़े हुए। यस्य=

जिसके। दवीयसी=अति दूर। न=नहीं (है)। (सः अहम्=वह मैं) धन्यः अस्मि=धन्य हूँ।

श्लोकार्थः—सुमेरुपर्वत की सुवर्णमयी पदवी के समान (शब्द और अर्थ की) उन्नति को धारण करने वाली, पापियों के लिये दुष्प्राप्य, विद्वानों के सेवन करने योग्य और समस्त मङ्गलकारिणी वाणी [जन्म मरण रूपी] दुःसह विपत्ति से ग्रस्त जिसके अति दूर नहीं है, अर्थात् मुँह में ही स्थित है, वह मैं धन्य हूँ।

विशेषः—इस पद्य में भी उपमालंकार है तथा आत्मधन्यता मूलक भावध्वनि है।

धन्योऽस्मि मोहतिमिरान्धदृशोऽपि यस्य
सानुग्रहेण विधिना परिकल्पिता मे।
वल्गुस्वना गुणवती धृतवक्रभङ्गि-
राराधनाय गिरिशस्य सरस्वतीयम्॥ ३॥

अन्वयः—सानुग्रहेण विधिना मोहतिमिरान्धदृशः अपि यस्य मे गिरिशस्य आराधनाय इयम् वल्गुस्वना गुणवती धृतवक्रभङ्गिः सरस्वती परिकल्पिता [सः अहम्] धन्यः अस्मि॥

पदार्थः—सानुग्रहेण=सहानुग्रहेण वर्तते यः सः तादृशस्तेन—अनुग्रहयुक्त। विधिना=विधाता के द्वारा। मोहतिमिरान्धदृशः=मोहोऽज्ञानमेव तिमिरं तेनान्धा दृक् नेत्रं यस्य स तादृशस्तस्य-मोह (अज्ञान) रूपी अन्धकार से अन्धे नेत्रों वाले। अपि=भी। यस्य=जिसके। मे=मेरे लिये। गिरिशस्य=भगवान् शिव की। आराधनाय=आराधना के लिये। इयम्=यह। वल्गुस्वना=मधुर शब्दों वाली। गुणवती—गुणा माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयः शब्दगुणा अर्थ-गुणाश्च विद्यन्ते यस्याः सा—माधुर्यादि गुणों वाली। धृतवक्रभङ्गिः=धृता वक्रभङ्गिः उपचारवक्रोक्तिर्यया सा तादृशी—वक्रोक्ति (आदि) से युक्त। सरस्वती=वाणी। परिकल्पिता=बनाई गयी है। (सः अहम्) धन्यः अस्मि=धन्य हूँ।

श्लोकार्थः—मोहरूपी अन्धकार से अन्धे नेत्रों वाले जिस मुझको विधाता ने अनुग्रहपूर्वक भगवान् शिव की आराधना के लिए यह सुमधुर शब्दों वाली माधुर्यादि गुणों वाली एवं वक्रोक्ति आदि से युक्त वाणी प्रदान की है, वह मैं धन्य हूँ।

विशेषः—इस पद्य में रूपकालंकारमूलक आत्मधन्यता का निरूपण है। 'वक्रभङ्गि' पद में श्लेषच्छाया की प्रतीति हो रही है।

सञ्जीवनौषधिरवैमि नवा भवाग्नि-
भस्मीकृतस्य विधिना मम निर्मितेयम्।
वाणी शिवैकविषयाभिनवोढगौरी-
दृष्टिच्छटेव चकिता मकरध्वजस्य ॥ ३ ॥

अन्वयः—[अहम्] अवैमि (यत्, भवाग्निभस्मीकृतस्य मकरध्वजस्य सञ्जीवनौषधिः) चकिता अभिनवोढगौरीदृष्टिच्छटा इव विधिना इयम् शिवैकविषया वाणी भवाग्निभस्मीकृतस्य मम नवा सञ्जीवनौषधिः निर्मिता।

पदार्थः—(अहम्=मैं) अवैमि=समझता हूँ। (यत्=कि। भवाग्निभस्मीकृतस्य=भवस्य शम्भोरग्निना तृतीयनेत्रोत्थवह्निना भस्मीकृतस्य—शिव की नेत्राग्नि से भस्म कर दिये गये। मकरध्वजस्य=कामदेव के। संजीवनौषधिः=संजीवन के लिये ओषधि (के रूप में ब्रह्मा के द्वारा) चकिता=चञ्चल। अभिनवोढगौरीदृष्टिच्छटा=नवविवाहिता पार्वती की दृष्टि-च्छटा। निर्मिता=निर्मित हुई थी। (वैसे ही) विधिना=ब्रह्मा के द्वारा। इयम्=यह। शिवैकविषया=एकमात्र शिव को सन्तुष्ट करने वाली। वाणी। भवाग्निभस्मीकृतस्य=संसाररूपी अग्नि से भस्म किये गये। मम=मेरे (लिये) नवा=नूतन। सञ्जीवनौषधिः सञ्जीवनी ओषधि। निर्मिता=बनायी गयी है।

श्लोकार्थः—मैं समझता हूँ कि जैसे शिव की नेत्राग्नि से भस्म कामदेव को पुनः जीवित करने के लिये ब्रह्मा ने नवोढा पार्वती की दृष्टिच्छटा रूपी नवीन सञ्जीवनी ओषधि का निर्माण किया था, वैसे ही भवाग्नि (संसार रूपी अग्नि) से भस्म मुझ दीन को सञ्जीवित करने के लिये विधि ने एक

मात्र शिव को सन्तुष्ट करने वाली इस वाणी के रूप में मेरे लिये साक्षात् नूतन सञ्जीवनी ओषधि बनायी है।

विशेषः—यहाँ रूपक और उपमा का अङ्गाङ्गिभावात्मक सङ्करालङ्कार है, तथा देवताविषयक रति भावध्वनि है।

जाने कथञ्चिदुदिता मम शोकवह्नि-
तप्तात्स्खलन्मृदुपदा हृदयादियं गौः।
चेतः प्रवेक्ष्यति शनैः करुणामृतौघ-
निः ष्यन्दशीतमपि शीतमयूखमौलेः ॥ ५ ॥

अन्वयः—शोकवह्नितप्तात् मम हृदयात् उदिता स्खलन्मृदुपदा इयम् गौः, करुणामृतौघनिःष्यन्दशीतम् शीतमयूखमौलेः चेतः अपि शनैः प्रवेक्ष्यति [इति अहम्] जाने।

पदार्थः--शोकवह्नितप्तात्=शोकाग्नि से संतप्त। मम=मेरे। हृदयात् =हृदय से। उदिता=निकली हुयी। स्खलन्मृदुपदा=स्खलन्ति गद्गदानि मृदूनि कोमलानि पदानि सुप्तिङन्तानि यस्याः सा तादृशी—गदगद और अतिकोमल पदों वाली। इयम्=यह। गौः=वाणी। करुणामृतौघनिःष्यन्दशीतम्करुणारूपी अमृत के प्रवाह से शीतल। शीतमयूखमौलेः=चन्द्रमौलि (भगवान् शङ्कर) के। चेतः=चित्त में। अपि=भी। शनैः=धीरे धीरे। प्रवेक्ष्यति=प्रविष्ट हो जायगी। [इति अहम्=ऐसा मैं] जाने=समझता हूँ।

श्लोकार्थः—मैं समझता हूँ कि जैसे कोई गौ अग्निसन्तप्त स्थान से किसी तरह निकल कर सुकोमल पदों (चरणों से लड़खड़ाती हुयी) धीरे धीरे जलप्रवाहयुक्त सुशीतल स्थान में पहुँच जाती है, वैसे ही मेरे शोकाग्निसन्तप्त हृदय से निकली, गद्गद तथा अतिकोमल पदों वाली वाणी भी करुणारूपी अमृत के प्रवाह से सुशीतल भगवान् चन्द्रमौलि के चित्त में धीरे धीरे प्रविष्ट हो जायेगी।

विशेषः—यहाँ रूपक अनुप्रास भावध्वनि है।

यच्चाटुचापलमलङ्घ्यभवभ्रमोऽहं
मोहं वहन्निह मुहुर्मुहराचरामि।

तत्र स्पृहावहमहार्यमहार्यपुत्री-
भर्तुः परार्ध्यमपराध्यति सौकुमार्यम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—मोहं वहन् अलङ्घ्यभवभ्रमः अहम् इह मुहुः मुहुः यत् चाटुचापलम् आचरामि, तत्र अहार्यपुत्रीभर्तुःस्पृहावहम् अहार्यम् परार्ध्यम् सौकुमार्यम् एव अपराध्यति ।

पदार्थः—मोहम्=अज्ञान को । वहन्=ढोता हुआ । अलङ्घ्यभवभ्रमः= अपार संसार के भ्रम में पड़ा हुआ । अहम्=मैं । इह=यहाँ । मुहुर्मुहुः=बार-बार । यत्=जो । चाटुचापलम्=चाटूक्तियाँ कहने की चपलता । आचरामि=कर रहा हूँ तत्र=वहाँ । अहार्यपुत्रीभर्तुः=अहार्यस्य पर्वतस्य (हिमाद्रेः) पुत्री पार्वती तस्या भर्तुः—गिरिजापति (शंकर) की । अहार्यम्=हरण न करने योग्य । स्पृहावहम् स्पृहणीय । परार्ध्यम्=असंख्य उत्कृष्ट । सौकुमार्यम्=सुकुमारता (का) । एव=ही । अपराध्यति=अपराध है ।

श्लोकार्थः—अज्ञान में डूबा हुआ और अपार संसार के भ्रम में पड़ा हुआ मैं यहाँ जो बार बार अनेक चाटूक्तियाँ कहने की चपलता कर रहा हूँ । इसमें गिरिजापति भगवान् शंकर की स्पृहणीय परमोत्कृष्ट सुकुमारता (सुकोमल अन्तः करण) का ही अपराध है, अर्थात् यदि प्रभु का अन्तः करण इतना अधिक दयालु न होता, तो मैं भी इतनी चपलता नहीं कर सकता था । प्रभु की अपार करुणा का स्मरण करके ही यह धृष्टता कर रहा हूँ ।

विशेषः—यहाँ यमक अनुप्रास काव्यलिङ्ग भावध्वनि है ।

यो मूर्धनि ध्वनदनर्गलनिर्झरौघ-
झाङ्कारिणीममरनिर्झरिणीं दधानः ।
गृहणाति भक्तजनतः कलशाभिषेकं
कस्तं न विज्ञपयितुं विभुमुत्सहेत ॥ ७ ॥

अन्वयः—यः मूर्धनि ध्वनदनर्गलनिर्झरौघझांकारिणीम् अमरनिर्झरिणीम् दधानः (सन् अपि) भक्तजनतः कलशाभिषेकं गृहणाति, तम् विभुम् विज्ञपयितुम् कः न उत्सहेत ?

पदार्थः—यः=जो (प्रभु) । मूर्धनि=मस्तक पर । ध्वनदनर्गलनिर्झरौघझांकारिणीम्=ध्वनन्तोऽनर्गला अव्युच्छिन्ना ये निर्झराः प्रवाहास्तेषामोघाः समूहास्तैर्झांकारिणीम्सशब्दाम्—शब्दायमान झरनों से झंकार (कल कल शब्द) करती हुयी । अमरनिर्झरिणीम्=देवगंगा को । दधानः=धारण करता हुआ (भी) भक्तजनतः=(पूजा के समय) भक्तजनों (के हाथों) से । कलशाभिषेकम्=कलश का अभिषेक । गृह्णाति=(कृपा कर) ग्रहण करता है । तम्=उस । विभुम्=व्यापक सदाशिव को । विज्ञपयितुम्=(अपनी दीनदशा का) निवेदन करने के लिए । कः=कौन । न उत्सहेत=नहीं उत्साह करेगा ।

श्लोकार्थः—जो प्रभु स्वयं अपने मस्तक में अविच्छिन्न रूप से बहने वाले शब्दायमान निर्झरों (जल प्रवाहों) से झंकार (कल कल शब्द) करती हुई देवगङ्गा को धारण करते हुये भी (पूजा के समय) भक्त लोगों के हाथों से कलश का अभिषेक (कमण्डलु का थोड़ा सा जल) कृपा करके ग्रहण कर लेते हैं । उस दयालु शिरोमणि सदाशिव से अपनी दीनदशा का निवेदन करने के लिये कौन उत्साह नहीं करेगा ? अर्थात् सभी करेंगे ।

विशेषः—यहाँ वृत्त्यनुप्रास भावध्वनि है ।

दग्धोऽस्मि तावदमुना दमुना ममान्त-
र्यः प्रज्वलत्यघनिदाघनिदानजन्मा ।
मुक्तस्य मे प्रतिभयातिभयाकुलस्य
वाणी कथं विगलतो गलतोऽभ्युदेति ॥ ८ ॥

अन्वयः—यः अघनिदाघनिदानजन्मा दमुना मम अन्तः प्रज्वलति । अमुना [दमुनसा] तावद् अहम् दग्धः अस्मि । अतः प्रतिभया मुक्तस्य अतिभयाकुलस्य विगलतः मे गलतः वाणी कथम् अभ्युदेति ?

पदार्थः—यः=जो । अघनिदाघनिदानजन्मा=अघान्येव निदाघस्तस्य निदानं तस्माज्जन्म यस्य सः—पाप रूपी ग्रीष्म से उत्पन्न । दमुनाः=अग्नि ["दमुना दम उपशमे" धातुः । अन्तर्भावितण्यर्थाद्दमेः "ऊनसिः" इत्युनसिप्रत्ययः दम्यतीति दमुना इति स्वामी [दमुना दीर्घमध्योऽपि । "दमूना दमुनाः प्राचीन

र्बाहः शुचिर्बर्हिषौ" इति नामनिदानात् इति रायमुकुटीकारः]। मम=मेरे। अन्तः=अन्तःकरण में। प्रज्वलति=प्रज्वलित हो रहा है। अमुना=इस (अग्नि) से। तावत्। अहम्=मैं। दग्धः अस्मि=दग्ध हो गया हूँ। अतः=इसलिये। प्रतिभया=प्रतिभा से। मुक्तस्य=रहित। अतिभयाकुलस्य=अत्यन्त भय से आकुल (और) विगलतः=पतित के। मे=मेरे। गलतः=कण्ठ से। वाणी। कथम्=कैसे। अभ्युदेति=निकल सकती है ?

श्लोकार्थः—प्रभो ! पापरूपी ग्रीष्मकाल द्वारा उत्पन्न जो अग्नि मेरे अन्दर प्रज्वलित हो रही है, उससे मैं दग्ध हो चुका हूँ। इस कारण मेरी प्रतिभा नष्ट हो गयी है। अतः मुझ अत्यन्त भयाकुल और विगलित (पतित) के दीन कण्ठ से वाणी (मनोहर स्तुति) कैसे निकल सकती है ?

विशेषः—यहाँ त्रिरावृत यमकालङ्कार भावध्वनि है।

क्रन्दाम्यतः किमपि नाम पिनाकपाणे
तीव्रार्तिनिस्तरणकारण कातरोऽहम्।
मोहाटवी विकटसङ्कटसंस्थितस्य
तन्मेऽवधारय शिवाय शिवातुरस्य ॥९॥

अन्वयः—पिनाकपाणे ! तीव्रार्तिनिस्तरणकारण ! अतः कातरः अहम् किम् अपि नाम क्रन्दामि, शिव ! मोहाटवीविकटसङ्कटसंस्थितस्य आतुरस्य मे शिवाय तद् अवधारय।

पदार्थः—पिनाकपाणे !=हाथ में पिनाक नामक धनुष को धारण करने वाले ! (शिव का विशेषण) तीव्रार्तिनिस्तरणकारण !=तीव्र दुःख से पार लगाने वाले ! अतः=इस कारण (पूर्व श्लोक में वर्णित प्रतिभानाश, भयाकुलता आदि के कारण) कातरः=भयभीत। अहम्=मैं। किमपि=जो कुछ भी (अच्छा बुरा)। नाम=नाम को। क्रन्दामि=विलाप कर रहा हूँ। शिव ! मोहाटवी-विकटसङ्कटसंस्थितस्य=मोहरूपी अरण्य के महान् सङ्कटस्थल में पड़े। आतुरस्य मे=मुझ आतुर के। शिवाय=कल्याण के लिये। तत्=उस (विलाप) पर (अवश्य) अवधारय=विचार करें।

श्लोकार्थः—इसलिये हे पिनाकपाणे ! हे तीव्र दुःख से पार लगाने वाले सदाशिव ! अत्यन्त कातर मैं जो कुछ भी ऊँच नीच भला बुरा विलाप कर रहा हूँ, हे कैवल्यदाता शिव ! मोहरूप अरण्य के महान् सङ्कटस्थल में पड़े मुझ आतुर के कल्याण के लिये आप मेरे उस विलाप पर अवश्य विचार करें।

विशेषः—यहाँ छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, रूपक, काव्यलिङ्ग भावध्वनि है।

आक्रन्दमिन्दुधर धारय देव! कर्णे
कस्त्वत्परः परमकारण कर्णधारः।
मूर्ध्ना वहन्नुडुपखण्डमखण्डपुण्यं
कं कं न तारयसि संसृतिसागराद्यः ॥१०॥

अन्वयः—इन्दुधर देव ! [मम] आक्रन्दम् कर्णे धारय ! परमकारण ! त्वत्परः कर्णधारः कः, यः उडुपखण्डम् मूर्ध्ना वहन् संसृतिसागरात् कम् कम् अखण्डपुण्यम् न तारयसि?

पदार्थः—इन्दुधर देव !=चन्द्रमा को धारण करने वाले [चन्द्रमौलि शिव !] [मम] आक्रन्दम्=मेरे करुणालाप को। कर्णे धारय=सुन लीजिये। परमकारण!=कारणों के भी कारण। त्वत्परः=तुमसे अतिरिक्त। कर्णधारः कः=कौन (ऐसा) कर्णधार (नाविक) है। यः=जो। उडुपखण्डम्=(आधी नाव या उडु=नक्षत्रों का प=स्वामी अर्थात् चन्द्रमा की एक कला) उडुप खण्ड को। मूर्ध्ना=मस्तक (पर) वहन्=ढोते (धारण करते) हुये। कम् कम्=किस किस। अखण्डपुण्यम्=भाग्यशाली को। संसृतिसागरात्=भवसागर से। न तारयसि=पार नहीं उतार देता।

श्लोकार्थः—अयि चन्द्रमोले ! मेरे करुणालाप को सुन लीजिये। परम कारण (कारणों के भी कारण) परमशिव ! आपके अतिरिक्त ऐसा कौन नाविक (मल्लाह या नेता) होगा, जो उडुपखण्ड (आधी नाव या उडु=नक्षत्रों का प=स्वामी अर्थात् चन्द्रमा की एक कला) को मस्तक पर धारण करता हुआ किस किस भाग्यशाली को भवसागर से पार नहीं उतार देता ?

विशेषः—यहाँ त्रिरावृत छेकानुप्रास, रूपक भावध्वनि है।

अस्माद्दृशैरशुचिभिश्चटुचापलानि
क्लृप्तान्यवैमि न मनस्तव नन्दयन्ति ।
आवर्जनाय विहितान्यपि चन्द्रमौले
कौलेयकस्य लडितानि किमाद्रियन्ते ॥११॥

अन्वयः—चन्द्रमौले ! अस्मादृशैः अशुचिभिः क्लृप्तानि चटुचापलानि तव मनः न नन्दयन्ति । [इति अहम्] अवैमि । [दृष्टं चैतत्] आवर्जनाय विहितानि कौलेयकस्य लडितानि [जनैः] किम् आद्रियन्ते ?

पदार्थः—चन्द्रमौले ! **अस्मादृशैः**=हम जैसे । **अशुचिभिः**=अपवित्र लोगों के द्वारा । क्लृप्तानि=विहित, किये गये । चटुचापलानि=चाटुकारितारूप चञ्चलता से युक्त वचन । तव=आप (प्रभु) के । मनः=मन को । न=नहीं । नन्दयन्ति=आनन्दित कर सकते । [इति अहम्] अवैमि=[ऐसा मैं] समझता हूँ । [दृष्टं चैतत्=ऐसा देखा गया है] आवर्जनाय=(स्वामी को) वश में करने के लिये । विहितानि=किये गये । अपि=भी । कौलेयकस्य=कुत्ते के । लडितानि=हाव भाव प्रदर्शन । [जनैः=लागों के द्वारा] किम्=क्या । आद्रियन्ते=आदर के योग्य होते हैं ?

श्लोकार्थः—भगवन् मैं समझता हूँ कि हम जैसे अपवित्र लोगों की चाटुकारितारूप चञ्चलता से युक्त वचन आपका मन आनन्दित नहीं कर सकते । क्योंकि कुत्ता अपने स्वामी को वश में करने के लिये उसके चरणों पर खूब लोट पोट किया ही करता है, पर क्या लोग उसका कोई आदर करते हैं ?

विशेषः—यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार छेकानुप्रास भावध्वनि है ।

यद्वा न मुग्धचरितान्यपि न प्रसाद-
मुत्पादयन्ति भवतः करुणार्णवस्य ।
स्वामिन्दरत्पुरविहारपरस्य किं न
चेतो हरन्ति तव बालकवल्गितानि ॥१२॥

अन्वयः—यद्वा स्वामिन् ! मुग्धचरितानि अपि भवतः करुणार्णवस्य प्रसादम् न उत्पादयन्ति, इति न । दरत्पुरविहारपरस्य तव चेतः बालकवल्गितानि किम् न हरन्ति ?

पदार्थ:—यद्वा=अथवा। स्वामिन्=हे प्रभो। मुग्धचरितानि=मूर्खों के चरित्र। अपि=भी। भवतः=आप। करुणार्णवस्य=करुणा सागर के। (मन में) प्रसादम्=प्रसन्नता। न उत्पादयन्ति=नहीं उत्पन्न करते। इति न=ऐसी बात नहीं, अर्थात् करते ही हैं। [कारण,] दरत्पुरविहारपरस्य=[लम्पाक देश के एक नगर] दरत्पुर में (बालकों के साथ) क्रीडा में तत्पर। तव=आपके। चेतः= चित्त को। बालकवल्गितानि=बालकों के नृत्य। किम्=क्या? न हरन्ति= नहीं हरते ?

श्लोकार्थ:—अथवा हे प्रभो। मूर्खों के चरित्र भी आप करुणा सागर के मन में प्रसन्नता उत्पन्न नहीं करते, ऐसी बात नहीं, अर्थात् करते ही हैं। कारण दरत्पुर (लम्पाक देश के एक नगर) में तद्देशीय बालकों के साथ क्रीडा में तत्पर आपके चित्त को क्या उन बालकों के नृत्य नहीं हरते ? अर्थात् हरते ही हैं।

विशेष:—यहाँ रूपक अनुप्रास भावध्वनि है।

दीनैर्विमुग्धवचनैरसमञ्जसार्थै-
यँद्वद् द्रवन्ति हृदयानि दयानिधीनाम्।
तद्वन्न दृष्टसभसप्रतिभप्रगल्भ-
सन्दर्भगर्भरचनाञ्चितवाक्प्रपञ्चैः ॥१३॥

अन्वय:—दीनैः असमञ्जसार्थैः विमुग्धवचनैः दयानिधीनाम् हृदयानि यद्वद् द्रवन्ति, तद्वद् दृष्टसभसप्रतिभप्रगल्भसन्दर्भगर्भरचनाञ्चितवाक्प्रपञ्चैः न [द्रवन्ति]।

पदार्थ:—दीनैः=विपद्ग्रस्त (लोगों के द्वारा कहे गये)। असमञ्जसार्थैः= अप्रकटितार्थक (अव्यक्त अर्थ वाले)। विमुग्धवचनैः=मूर्खतापूर्ण वचनों से। यद्वत्=जिस प्रकार। दयानिधीनाम्=दयालुओं के हृदयानि=हृदय। द्रवन्ति= द्रवीभूत होते हैं। तद्वत्=उस प्रकार। दृष्टसभसप्रतिभप्रगल्भसन्दर्भगर्भरचना- ञ्चितवाक्प्रपञ्चैः-दृष्टसभानाम्=देख लिया है (विद्वानों की) बहुत सी सभाओं को जिसने। सप्रतिभाभिः महाप्रतिभाशाली। प्रगल्भसन्दर्भगर्भाभिः=प्रौढोक्तियों के सन्दर्भ से गर्भित। रचनाभिः=रचनाओं से। अञ्चितैः=युक्त। वाक्प्रपञ्चैः= वाग्जालों से। न=नहीं। [द्रवन्ति=द्रवित होते]।

श्लोकार्थः—दीन दुःखियों के अव्यक्त अर्थ वाले भोले-भाले (मूर्खतापूर्ण) वचनों को सुन कर दयालु प्रभुओं के हृदय जितने द्रवीभूत होते हैं, उतने प्रकाण्ड विद्वानों की महाप्रतिभाशाली प्रौढोक्तियों के सन्दर्भ से गर्भित रचनाओं वाले वाग्जालों से कदापि नहीं होते।

विशेषः—यहाँ वृत्यनुप्रास, रूपक भावध्वनि है।

दुग्धाब्धिदोऽपि पयसः पृषतं वृणोषि
दीपं त्रिधामनयनोऽप्युररीकरोषि।
वाचां प्रसूतिरपि मुग्धवचः शृणोषि
किं किं करोषि न विनीतजनानुरोधात् ॥१४॥

अन्वयः—[हे विभो] दुग्धाब्धिदः अपि त्वम् पयसः पृषतम् वृणोषि, त्रिधामनयनः अपि दीपम् उररीकरोषि, वाचाम् प्रसूतिः अपि मुग्धवचः शृणोषि। विनीतजनानुरोधात् किम् किम् न करोषि ?

पदार्थः—[हे विभो] दुग्धाब्धिदः=क्षीरसमुद्र का दान करने वाले। अपि=भी। त्वम्=तुम (आप)। पयसः=दुग्ध के। पृषतम्=बिन्दु को। वृणोषि =ग्रहण करते हैं। त्रिधामनयनः अपि=तीनों नेत्रों में (सूर्य चन्द्र और अग्नि रूप। तीनों तेजोमय पिण्ड धारण करते हुये भी। दीपम्=[भक्तों के द्वारा प्रदत्त छोटा सा एक] दीपक। उररीकरोषि=स्वीकार करते हो। [तथा] वाचाम्=[समस्त ब्राह्मी वाणियों] श्रुतियों के। प्रसूतिः=उत्पत्तिस्थान [होकर] अपि=भी। मुग्धवचः [मेरे सदृश] अल्पज्ञ और मुग्ध लोगों की वाणियों [स्तुतियों] को। शृणोषि=सुनते हो। विनीतजनानुरोधात्=[भक्ति से] विनम्र लोगों के आग्रह से [आप] किम् किम्=क्या क्या। न करोषि=नहीं करते।

श्लोकार्थः—[हे विभो !] [बालक उपमन्यु के लिये] क्षीर समुद्र का दान करने वाले भी आप [पूजन के समय भक्तों द्वारा दिये हुये] दुग्ध बिन्दु को ग्रहण कर लेते हो। तीनों नेत्रों में सूर्य चन्द्र और अग्नि रूप तीनों तेजोमय पिण्ड धारण करते हुये भी भक्तों द्वारा प्रदत्त एक छोटा सा दीपक स्वीकार कर लेते हो। समस्त ब्राह्मी वाणियों (श्रुतियों) के उत्पत्ति स्थान होकर भी

[मेरे जैसे] अल्पज्ञ और मुग्ध लोगों की वाणियों (स्तुतियों) को [स्नेहपूर्वक] सुन लेते हो। [इस प्रकार हे दयासागर !] भक्ति से विनीत लोगों के आग्रह से आप क्या-क्या नहीं करते ?

विशेषः--यहाँ हेत्वलङ्कार अनुप्रास भावध्वनि है।

यत्सत्यवत्यपि जगद्विदितानसूया
वाणी ममेयमिदमेव हि देव चित्रम्।
अत्यद्भुतम् पुनरिदं यदरुन्धतीयं
त्वामारिराधयिषुरेवमुदीरितापि ॥१५॥

अन्वयः—देव ! जगद्विदिता सत्यवती अपि यद् इयम् मम वाणी अनसूया [भवति] इदम् एव चित्रम्। एवम् उदीरिता अपि [त्वाम्] अरुन्धती इयम् यत् त्वाम् एव आरिराधयिषुः तत् पुनः अत्यद्भुतम्।

पदार्थः—देव ! =स्वामिन्। जगद्विदिता=संसार में प्रसिद्ध। सत्यवती= सत्यव्रत वाली (दूसरे अर्थ में पराशर मुनि की पतिव्रता पत्नी) अपि=भी। यद्=जो। इयम्=यह। मम=मेरी। वाणी। अनसूया=ईर्ष्या द्वेष से रहित (दूसरे अर्थ में अत्रि मुनि की पत्नी) [भवति=हो रही है] इदमेव=यही। चित्रम्=आश्चर्य है। एवम्=इस प्रकार। उदीरिता=वर्णित। अपि=भी। [त्वाम्=आपको] अरुन्धती=न रोक पाने वाली अथवा प्राप्त न कर सकने वाली (दूसरे अर्थ में वशिष्ठ मुनि की धर्म पत्नी) [होकर भी] इयम्=यह। यत्=जो। त्वामेव=आपकी ही आरिराधयिषुः=आराधना की इच्छुक है। तत्= वह। पुनः अत्यद्भुतम्=दूसरा महान् आश्चर्य है।

श्लोकार्थः—स्वामिन् ! संसार में प्रसिद्ध सत्यवती (सत्यव्रत वाली) होकर भी यह मेरी वाणी जो अनसूया (ईर्ष्या दोष से रहित) हो गयी है, पहले तो यही एक आश्चर्य है। दूसरा महान् आश्चर्य यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित यह वाणी पुनः अरुन्धती (आपको प्राप्त न होने वाली) होकर भी पुनः आपका ही आराधन करने की इच्छा करती है।

विशेषः—इस श्लोक से कवि ने श्लेषमूलक विरोधाभास अलङ्कार द्वारा विलक्षण चमत्कार दिखाया है। वह कहता है—जो सत्यवती (पराशर मुनि

की पतिव्रता पत्नी) है, वह अनसूया (अत्रि मुनि की पत्नी हो गयी है और जो अनसूया है वह अरुन्धती (वशिष्ठ मुनि की पत्नी हो गयी है। और अरुन्धती आपकी आराधना करने की इच्छा करती है। अन्यार्थक होने से विरोध का परिहार होता है।

स्वे धाम्नि मे हृदि कृतस्थितिमुक्तिदेवीं
कृत्वा प्रवेशमनयः स्वयमन्मुखत्वम्।
धाराधिरूढविरहव्यथितामिदानी-
माधाय धैर्यमवधारयसीत्ययुक्तम् ॥१६॥

अन्वयः—[हे स्वामिन्] स्वे धाम्नि मे हृदि प्रवेशम् कृत्वा [तत्र] कृतस्थितिम् [मम] उक्तिदेवीम् स्वयम् एव उन्मुखत्वम् अनयः। [पुनः, तस्याः] धैर्यम् आधाय इदानीम् धाराधिरूढविरहव्यथिताम् यत् अवधारयसि, इति अयुक्तम्।

पदार्थः—[हे स्वामिन्] स्वे=अपने। धाम्नि=धाम में। मे=मेरे। हृदि= हृदय में। प्रवेशं कृत्वा=प्रवेश करके। [तत्र=वहीं] कृतस्थितिम्=निवास करने वाली [मम=मेरी] उक्तिदेवीम्=सरस्वती (वाणी) को। स्वयमेव=स्वयं ही [अपने अनुराग पथ पर] उन्मुखत्वमनयः=उन्मुख किया। [पुनः, तस्याः= फिर उसे] धैर्यम् आदाय=धैर्य देकर, इदानीम्=इस समय। धाराधिरूढविरह व्यथिताम्=पराकाष्ठा को प्राप्त विरह व्यथा से नितान्त दुःखिता को। यत्=जो। अवधारयसि=अपमानित कर रहे हो। इति अयुक्तम्=यह अनुचित है।

श्लोकार्थः—अयि स्वामिन्! अपने धाम इस मेरे हृदय में प्रवेश करके वहीं निवास करने वाली इस मुदित वाणी को आपने स्वयं ही [अपने अनुराग पथ पर] उन्मुख किया। (फिर उसे "मैं तुम्हें अवश्य ग्रहण करूँगा" ऐसा) धैर्य देकर अब इस समय विरह व्यथा की पराकाष्ठा में पहुँच कर नितान्त दुःखित इस बेचारी का इस प्रकार जो अपमान कर रहे हैं (इसकी बात नहीं सुनते) यह अत्यन्त ही अयुक्त है।

विशेषः—यहाँ रूपक समासोक्ति अनुप्रास भावध्वनि है।

एका त्वमेव भवितासि मम प्रियेति
दत्तं वरं स्मरसि चेद् गिरिराजपुत्र्याः।
प्रेम्णा बिभर्षि कथमम्बरसिन्धुमिन्दु-
लेखां च मूर्ध्नि हृदये दयितां दयां च ॥१७॥

अन्वयः—('अपर्णे !) त्वम् एव एका मम प्रिया भवितासि' इति गिरिराजपुत्र्याः दत्तम् वरम् स्मरसि चेत्, (तर्हि स्वामिन् !) प्रेम्णा अम्बर-सिन्धुम् इन्दुलेखाम् च मूर्ध्नि दयितां दयां च हृदि कथम् बिभर्षि ?

पदार्थः—('अपर्णे !) त्वम्=तुम। एव=ही। एका=एक (केवल)। मम=मेरी। प्रिया=वल्लभा। भवितासि=होगी। इति=ऐसा। गिरिराजपुत्र्याः= पार्वती का। दत्तम्=दिये हुये। वरम्=वरदान को। स्मरसि चेत्=यदि स्मरण करते हो,। (तर्हिं=तो। स्वामिन=देव) प्रेम्णा=प्रेम पूर्वक। अम्बरसिन्धुम्= गङ्गा को। इन्दुलेखाम्=चन्द्रमा की कला को। मूर्ध्नि=सिर पर। (तथा)। दयिताम्=प्यारी। दयाम्=कृपा को। हृदि=हृदय में। कथम्=क्यों। बिभर्षि ?= धारण करते हो ?

श्लोकार्थः—आपने पार्वती जी को यह वरदान दिया था कि अपर्णे ! मैं तुमसे अतिरिक्त किसी दूसरी स्त्री को प्यार नहीं करूंगा। यदि आप इसी वर को याद करते हों, अर्थात् इसी प्रतिज्ञा के भङ्ग होने के भय से ही आप मेरी बेचारी वाणी के विषय में उदासीन हो रहे हों, तब आपने बड़े प्रेम से गंगा और चन्द्रकला को सिर पर क्यों चढाया ? तथा हृदय में प्यारी करुणा को भी क्यों धारण किया ? (क्या इनके धारण करने से आपकी प्रतिज्ञा का भङ्ग नहीं हुआ ? फिर मेरी वाणी को भी स्वीकार कर लीजिये—यह भाव है)

विशेषः—यहाँ दीपकालङ्कार अनुप्रास यथासंख्य भावध्वनि है।

एतां निसर्गसरलामभिजातमुग्धा-
मद्भावधीरयसि धीरगभीरमानी।
जानासि किं न शतशो नतसान्त्वनेषु
यद् वृद्धया करुणया नरिनर्तितोऽसि ॥१८॥

अन्वयः—अद्धा (हे विभो !) धीरगभीरमानी (त्वम्) निसर्गसरलाम् अभिजातमुग्धाम् एताम् अवधीरयसि, तत्किं न जानासि यत् शतशः नतसान्त्वनेषु वृद्धया करुणया नरिनर्तितः असि ?

पदार्थः—अद्धा=निश्चय ही। (हे विभो !) धीरगभीरमानी=अपने को धीर और गम्भीर मानने वाले। (त्वम्=आप।) निसर्गसरलाम्=स्वभावतः सरल। अभिजातमुग्धाम्=अति सुकुमार और भोली भाली। एताम्=इस (वाणी को)। अवधीरयसि=अपमानित कर रहे हो। तत्किम्=तो क्या। न जानासि=नहीं जानते हो। यत्=कि। शतशः=सैकड़ों बार। नतसान्त्वनेषु=भक्त जनों का आश्वासन (अभय-वचन) देने में। वृद्धया=निरन्तर वृद्धि गत (अतिवृद्धा) करुणया=करुणा के द्वारा। नरिनर्तितः असि=बार बार नचाये गये हो।

श्लोकार्थः—हे विभो ! निश्चय ही अपने को महान् धैर्यशाली और गम्भीर मानने वाले आप मेरी इस स्वभावतः सरल, अतिसुकुमार और मुग्धा (भोली भाली) वाणी (स्तुति) को अपमानित कर रहे हो। पर क्या यह नहीं जानते कि सैकड़ों बार भक्तजनों को आश्वासन (अभयवचन) देने में निरन्तर वृद्धिगत (अतिवृद्धा) करुणा ने आपको बार बार नचाया है ?

विशेषः—श्लेष पर आधृत समासोक्ति से इसका भाव यह है कि जिस तरह प्रियापद-नमन और सान्त्वन व्यापार में किसी वृद्धा (प्रौढा) नायिका के द्वारा बार बार नचाया गया कोई अपने को धीर गम्भीर बता कर मुग्धा नायिका का तिरस्कार करता है, तो वह उचित नहीं। इसी प्रकार भक्तों के लिये अत्यन्त वृद्धा (बढ़ी हुयी) करुणा की कठपुतली बने आप द्वारा मेरी मुग्धा वाणी की उपेक्षा उचित नहीं है। यह भक्त का अत्यन्त सरस उपालम्भ है। यहाँ छेकानुप्रास वृत्यनुप्रास, समासोक्ति ध्वनि है।

प्रस्तौति निस्त्रपतयातिकदर्थितेयं
चाटूनि कर्तुमपि मौग्ध्यविसंस्थुलानि।
कात्यायनीवचनदुर्ललितस्य तानि
मुक्तोपमानि न मनस्तव नन्दयन्ति ॥१९॥

अन्वयः—आर्तिकदर्थिता इयम् निस्त्रपतया मौग्ध्यविसंस्थुलानि चाटूनि अपि कर्तुम् प्रस्तौति । किन्तु मुक्तोपमानि तानि कात्यायनीवचनदुर्ललितस्य तव मनः न नन्दयन्ति ।

पदार्थः—हे स्वामिन् । आर्तिकदर्थिता=मानसिक व्यथा से पीडित । इयम्=यह (वाणी) । निस्त्रपतया=निर्लज्जता के कारण । मौग्ध्यविसंस्थुलानि=(भोले स्वभाव) से विश्रृङ्खलित । चाटूनि=चाटुकारिता (खुशामदें) । अपि=भी । कर्तुं प्रस्तौति=करना आरम्भ करती है । किन्तु । मुक्तोपमानि=अतिसुमनोहर । (भी) तानि=वे (चाटूक्तियाँ) । कात्यायनीवचनदुर्ललितस्य=कात्यायनी (पार्वती) के वचनों को सुनने के अभ्यस्त । तव=आपके । मनः=मन को । न नन्दयन्ति=आनन्दित नही कर पातीं ।

श्लोकार्थः—हे प्रभो ! किस किस उपाय से मैं अपने नाथ की प्रियतमा बन जाऊं ? इस प्रकार मानसिक व्यथा से पीडित यह मेरी वाणी निर्लज्जता के कारण मुग्धता (भोले स्वभाव) से विश्रृङ्खलित चाटुकारिता (खुशामदें) भी कर रही है । किन्तु इसकी अतिमनोहर भी वे चाटूक्तियां कात्यायनी (पार्वती) के वचनों के ही नित्य-अभ्यासी आपके मन को आनन्दित नहीं कर पातीं ।

विशेषः—यहाँ 'कात्यायनी' पद का प्रयोग साभिप्राय है । अर्द्धवृद्धा नायिका को भी 'कात्यायनी' कहते हैं । 'कात्यायन्यर्द्धवृद्धा या' (अमरकोष) । अतः कवि ने यहाँ व्यङ्ग्य से प्रभु का यह उपहास किया है–प्रभो ! आप एक कात्यायनी (अर्द्धवृद्धा) के वचनों के इतने आदी हो गये हैं कि उसके सामने मुग्धा बाला की मनोहर चाटूक्तियाँ भी आपको अच्छी नहीं लगतीं । अथवा-बाल नायिका की अपेक्षा वयोऽधिका नायिका में अधिक रसानुभूति होती है, अतः यहाँ इस पद से यह भाव भी लक्षित होता है । यहाँ नायिका व्यवहारमूलक ध्वनि तथा अनुप्रास अलङ्कार है ।

अस्यामसह्यविरहज्वरकातरायां
प्रीतिर्न ते यदि परं निरवग्रहस्य ।
सर्वान्तरातिदलनाय दृढा प्रतिज्ञा
विज्ञाततत्त्व कथमीश्वर विस्मृता ते ॥ २० ॥

अन्वय:—विज्ञाततत्व ईश्वर! परं निरवग्रहस्य ते प्रीतिः परं असह्यविरह-ज्वरकातरायाम् अस्याम् यदि न भवति चेत्, [तर्हि] सर्वान्तरार्तिदलनाय दृढा प्रतिज्ञा ते कथम् विस्मृता ?

पदार्थः—विज्ञाततत्त्व=हृदयगत भावों को जानने वाले। ईश्वर !=देव ! परमेश्वर। निरवग्रहस्य=निरङ्कुश। ते= आपकी। प्रीतिः=प्रीति। असह्यविरह-ज्वरकातरायाम् = असह्य विरहज्वर से दीन। अस्याम्= इस [मेरी वाणी] पर। यदि न भवति चेत्=यदि नहीं होती। [तर्हि=तो] सर्वान्तरार्तिदलनाय= =समस्त जीवों की मानसिक व्यथा दलन करने के लिये। दृढा प्रतिज्ञा=दृढ़ प्रतिज्ञा। ते कथं विस्मृता=आपके द्वारा कैसे विस्मृत कर दी गयी ?

श्लोकार्थः—अपनी अन्तर्यामी शक्ति द्वारा सबके हृदयगत भावों को जानने वाले परमेश्वर। निरंकुश (सर्व-स्वतन्त्र) आप अपनी प्रीति यदि आपके असह्य विरहज्वर से कातर मेरी वाणी पर ही नहीं करते [तो मैं पूछता हूँ कि] समस्त जीवों की मानसिक व्यथा दलन करने के लिये जो आपकी दृढ़ प्रतिज्ञा है, उसे कैसे भूल गये ?

विशेषः—यहाँ छेकानुप्रास, नायकनायिकानिष्ठ भावध्वनि है।

सत्यं कलां वहसि बिभ्रदुमां यदर्द्धे
धत्से दयां हृदि ययार्थिषु नर्तयन्त्या।
नीतोऽसि नीलगल नीलगलत्वमेव
मद्वाचि साचि तु मुखं कुरुषे रुषेव ॥ २१ ॥

अन्वयः—नीलगल ! सत्यम् कलाम् वहसि ! यत् अर्धे उमाम् बिभ्रत् ताम् दयाम् हृदि धत्से, यया अर्थिषु [त्वाम्] नर्तयन्त्या त्वम् नीलगलत्वम् एव नीतः असि। किन्तु मद्वाचि तु रुषा इव साचि मुखम् कुरुषे।

पदार्थः—हे नीलगल ! (कालकूट नामक विष के निगरण से) नीले कण्ठ वाले शिव ! सत्यम्=यह सत्य है [कि तुम] कलाम्=चन्द्रकला अथवा शिल्प-विशेष (को)। वहसि=धारण करते हो। (क्यों कि) अर्धे=शरीर के अर्द्ध (वाम) भाग में। उमाम्=पार्वती को। बिभ्रत्=धारण करते हुये। ताम्=उस। दयाम्=दया को। हृदि=हृदय के अन्दर। धत्से=धारण करते हो। यया=जिस

(दया) के द्वारा । अर्थिषु=शरणागतों के बीच । त्वाम्=तुमको । नर्तयन्त्या=नचाती हुयी के द्वारा । त्वम्=तुम । नीलगलत्वम्=[उनके परित्राण के लिये कालकूट भक्षण के द्वारा] नीले कण्ठ वाले अथवा मोर । नीतोऽसि=बना लिये गये हो । किन्तु । मद्वाचि=मेरी वाणी पर । रुषा=क्रोध से । इव=जैसे । साचि=वक्र । मुखं कुरुषे=मुंह बना रहे हो ।

श्लोकार्थः—हे नीलकण्ठ ! सचमुच आप कला (चन्द्रकला या शिल्प-विशेष) को धारण करते हो, अर्थात् बहुत बड़े कलाबाज हो । क्यों कि अर्धाङ्ग में श्री उमा को धारण करते हुये हृदय के अन्दर उस दया को भी धारण करते हो, जिसने शरणागतों के बीच आपको खूब नाच नचाकर नीलकण्ठ (उनके परित्राण के लिये कालकूट-भक्षण द्वारा काले कण्ठवाला या नाचने वाला मयूर) ही बना डाला है । किन्तु प्रभो ! आपके विरह से व्याकुल बेचारी इस मेरी वाणी पर तो आप क्रोध से कुटिल मुख (वक्र दृष्टि) कर रहे हो ।

विशेषः—यहाँ उत्प्रेक्षा परिकर और वृत्त्यनुप्रास है ।

गृह्णासि मूर्धनि जलैर्धवलैर्विलोलै-
रुद्वेलितां निजपदस्खलितां द्युसिन्धुम् ।
एतामनन्यगतिमुज्झसि साधुवृत्तां
वाचं स्वतन्त्रचरितस्य किमुच्यते ते ॥ २२ ॥

अन्वयः—[हे स्वामिन् ।] धवलैः विलोलैः जलैः उद्वेलिताम् निजपदस्खलिताम् द्युसिन्धुम् मूर्धनि गृह्णासि, अनन्यगतिम् साधुवृत्ताम् एताम् [मम] वाचम् उज्झसि [अतः] स्वतन्त्रचरितस्य ते किम् उच्यते ।

पदार्थः—(हे स्वामिन्=हे प्रभो ।) धवलैः=स्वच्छ । विलोलैः=चञ्चल । जलैः=जलों से । उद्वेलिताम्=कम्पित । निजपदस्खलिताम्=निजपद (अपने मूल स्थान सत्यलोक) से च्युत । द्युसिन्धुम्=देवगङ्गा को । मूर्धनि=मस्तक पर । गृह्णासि=धारण करते हो । (और) अनन्यगतिम्=अनन्यशरणा । (एवम्) साधुवृत्ताम्=सुन्दर वृत्त (मनोहर छन्दों) वाली (मेरी) वाचम्=वाणी को । उज्झसि=त्याग रहे हो । (अतः) स्वतन्त्रचरितस्य=स्वतन्त्र, स्वेच्छाचारी । ते=आप (परमेश्वर) को । किमुच्यते=क्या कहा जाय ।

श्लोकार्थः—हे प्रभो ! (जैसे कोई स्वेच्छाचारी पुरुष अतिचञ्चल जड़ (मूर्ख) लोगों से उद्वेलित (कुलमर्यादा से च्युत की हुई) और निजपद (पातिव्रत-धर्म) से विचलित (कुलटा स्त्री को सिर चढ़ा लेता है और अनन्य-परायणा साध्वी पतिव्रता का परित्याग कर देता है, वैसे ही) आप स्वच्छ और चञ्चल जलों से उद्वेलित (कम्पित) एवं निजपद (अपने मूल स्थान-सत्यलोक) से च्युत देव गंगा को प्रेम से मस्तक पर धारण करते हो, और इस अनन्यशरणा एवं सुन्दरवृत्त (मनोहर छन्दों) वाली मेरी वाणी का परित्याग कर रहे हो। आप स्वतन्त्र स्वेच्छाचारी परमेश्वर हैं, सब कुछ कर सकते हैं, अतः आपको क्या कहा जाय ?

विशेष :—यहाँ वृत्त्यनुप्रास तथा उपालम्भन ध्वनि है।

किं भूयसा यदि न ते हृदयङ्गमेय-
मस्या गृहे वससि किं हृदये मदीये ।
सार्द्धं प्रियेण वसनं तदुपेक्षणं च
दुःखावहं हि मरणादपि मानिनीनाम् ॥२३॥

अन्वय :—भूयसा किम् ? इयम् यदि ते हृदयङ्गमा न (भवति), तर्हि अस्याः गृहे मदीये हृदये किम् वससि ? हि प्रियेण सार्धम् वसनम् तदुपेक्षणम् च मानिनीनाम् मरणात् अपि दुःखावहम् (भवति)।

पदार्थ :—भूयसा किम्=अधिक (कहने)से क्या ? (हे विभो) इयम्=यह (मेरी वाणी)। यदि। ते=तुम्हारे हृदयङ्गमा=हृदय में प्रिय लगने वाली। न=नहीं। (भवति=है), तर्हि=तो। अस्याः=इसके। गृहे=घर में। (अर्थात्) मदीये=मेरे। हृदये=हृदय में। किम्=क्यों। वससि=निवास करते हो ? हि=क्योंकि, प्रियेण सार्द्धम्=प्रिय के साथ। वसनम्=रहना। तदुपेक्षणम् च=और उसकी उपेक्षा। मानिनीनाम्=मानिनी (महिलाओं) के लिए। मरणादपि दुःखावहम्=मरने से भी अधिक कष्टप्रद (होता है।)

श्लोकार्थ :—प्रभो। अब आप से अधिक क्या कहूँ ? यदि यह मेरी वाणी आपको प्रिय न लगती हो, तो फिर आप इसके घर (मेरे हृदय, में क्यों निवास करते हैं ? देखिए। यदि प्रियतमा अपने प्राणपति के साथ

निवास करे और पति उसकी उपेक्षा किया करे, तो यह बात मानिनी महिलाओं को मरण से भी अधिक दुःखदायी हो जाती है।

विशेष :—यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

मातः सरस्वति बधान धृतिं त्वदीयां
विज्ञप्तिमार्तिविधुरां विभवे निवेद्य।
देवी शिवा शशिकला गगनापगा च
कुर्वन्त्यवश्यमबलाजनपक्षपातम् ॥ २४ ॥

अन्वय :—मातः सरस्वति ! धृतिम् बधान, शिवा देवी, शशिकला, गगनापगा च त्वदीयाम् आर्तिविधुराम् विज्ञप्तिम् विभवे निवेद्य अवश्यम् (एव) अबलाजनपक्षपातम् कुर्वन्ति।

पदार्थ :—मातः सरस्वति !=माँ सरस्वती । धृतिम्=धैर्य । बधान=बाँधो। शिवा देवी=पार्वती देवी। शशिकला=चन्द्रकला। गगनापगा=आकाश गंगा। (च=और) त्वदीयाम्=तुम्हारी। आर्तिविधुराम्=मानसिक व्यथा से दीन। विज्ञप्तिम्=निवेदन को। विभवे=प्रभु के लिए। निवेद्य=निवेदित करके। अवश्यमेव=अवश्य ही। अबलाजनपक्षपातम्=स्त्रीजाति का (तुम्हारा) पक्षपात करेंगी।

श्लोकार्थ :—माँ सरस्वती। तुम धैर्य धारण करो। (अर्थात् यद्यपि प्रभु तेरी उपेक्षा करते हैं, फिर भी तू उनकी स्तुति करती जा। यदि वे तेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं करते, तो उनकी संग रहनेवाली) वह पार्वती देवी, चन्द्रकला और आकाशगंगा, ये तीनों स्त्रियाँ तेरी दीन प्रार्थना प्रभु से निवेदन कर अवश्य ही तुम अबला, स्त्री जाति का (तुम्हारा) पक्षपात करेंगी, अर्थात् प्रभु से प्रार्थना कर उन्हें तुम्हारे अभिमुख कर देंगी।

विशेष :—यहाँ यथासङ्ख्य अलंकार है।

एषा निसर्गकुटिला यदि चन्द्रलेखा
स्वर्गापगा च यदि नित्यतरङ्गितेयम्।
देवी दयार्द्रहृदया तु नगेन्द्रकन्या
धन्या करिष्यति न ते निबिडामवज्ञाम् ॥२५॥

अन्वय :—(मातः !) यदि एषा चन्द्रलेखा निसर्गकुटिला स्वर्गापगा च नित्यतरङ्गिता (भवति, तर्हि) दयार्द्रहृदया धन्या देवी नगेन्द्रकन्या तु ते निबिडाम् अवज्ञाम् न करिष्यति ।

पदार्थ :—(मातः=माँ !) यदि । एषा=यह । चन्द्रलेखा=चन्द्रकला । निसर्गकुटिला=स्वभाव से ही बड़ी टेढ़ी है । स्वर्गापगा=व्योमगंगा । च=भी । नित्यतरङ्गिता भवति तर्हि=नित्य नयी तरङ्गों (मनोभावों)=सनकों) वाली और केवल बातें बनाने में चतुर है, तो । दयार्द्रहृदया=दया के कारण कोमल हृदय वाली । धन्या देवो=महाभागा भगवती । नगेन्द्रकन्या=पार्वती । तु=निश्चय ही ! ते=तुम्हारी । निबिडाम्=दृढ़ । अवज्ञाम्=अवमानना, (उपेक्षा) । न करिष्यति=नहीं करेंगी ।

श्लोकार्थः—माँ ! यदि यह चन्द्रकला स्वभाव से ही बड़ी कुटिल हैं और व्योगगंगा भी नित्य नयी तरङ्गों (मनोभावों=सनकों) वाली और केवल बातें बनानें में चतुर हैं (अतः यदि इन नारियों का तुझे विश्वास नहीं होता, तो न सही,) अतिशय दयार्द्रहृदया महाभागा भगवती श्री गिरिजादेवी तो तेरी कठोर अवहेलना कदापि न करेंगी ।

विशेष :—यहाँ 'नगेन्द्रकन्या' शब्द साभिप्राय है । भगवती पार्वती पर्वतराज हिमालय की पुत्री हैं । शिलामय पिता के समान क्षमाशील हैं, अतः किसी के भी अवगुणों पर दृष्टि नहीं देतीं इसलिए वे प्रभु से तुम्हारा निवेदन स्वीकृत कराकर तुझे अवश्य आश्वस्त कर देंगी—यह भाव है । यहाँ परिकर और अनुप्रास अलङ्कार है ।

त्वामेव देवि शरणीकरवाणि वाणि
कल्याणि सूक्तिभिरुपस्तुहि चन्द्रमौलिम् ।
मातर्नयामि न पुनर्भवतीमलीक-
वाचालबालिशविलङ्घनभाजनत्वम् ॥२६॥

अन्वय :—देवि कल्याणि वाणि ! (अहम्) त्वाम् एव शरणीकरवाणि । (त्वम्) सूक्तिभिः चन्द्रमौलिम् उपस्तुहि । मातः (अहम्) भवतीम् अलीकवाचाल-बालिशविलङ्घनभाजनत्वम् पुनः न नयामि ।

पदार्थः—देवि कल्याणि वाणि ।=हे देवि मङ्गलदायिनी, भगवती सरस्वती माँ । अहम् त्वाम् एवं शरणीकरवाणि=मैं तेरी ही शरण लेता हूँ । (त्वम्=तुम) सूक्तिभिः=सुमनोहर उक्तियों से । चन्द्रमौलिम्='चन्द्रमौलि' की । उपस्तुहि=स्तुति करो । मातः=माँ । (अहम्=मैं) भवतीम्=आपको । अलीक-वाचालवालिशविलङ्घनभाजनत्वम् — अलीकेन=मिथ्यावाद से । वाचालैः= बहुत बोलनेवाले, बालिशैः=मुर्खों से (विहित जो) विलङ्घनम्=तिरस्कार । (तस्य=उसका) भाजनत्वम्=पात्रता को । पुनः न नयामि=नही प्राप्त कराऊँगा ।

श्लोकार्थ :—हे देवि, मङ्गलदायिनि, भगवति सरस्वति माँ! मैं तेरी ही शरण लेता हूँ । तू सुमनोहर उक्तियों से भगवान् 'चन्द्रमौलि' की स्तुति कर । माँ मैं तुम साध्वी को मिथ्यावाद (झूठी श्लाघा)से वाचाल बने मूर्खों द्वारा अपमानित कराना नहीं चाहता, अर्थात् मैं तुमसे केवल एक प्रभु के सिवा अन्य किसी भी प्राकृत पुरुष की प्रशंसा कराना नहीं चाहता ।

विशेष :—यहां यमकऔर वृत्त्यनुप्रास है ।

देवि प्रपन्नवरदे गुणगौरि गौरि
यद्गौरियं परिमितं स्रवतीह किञ्चित् ।
तत्स्वामिने समुचिते समये सुपाक-
माकूतवेदिनि निवेदयितुं प्रसीद ॥ २७ ॥

अन्वय :—हे प्रपन्नवरदे गुणगौरि देवि गौरि । (गौः यत् किञ्चित् परिमितं क्षीरं स्रवति, तत् च सुपाकं कृत्वा यथा कोऽपि प्रभवे निवेदयति, तथा) इयम् गौः इह यत्किञ्चित् परिमितं स्रवति, तत् सुपाकम् आकूतवेदिनि । समुचिते समये स्वामिने निवेदयितुं प्रसीद ।

पदार्थ :—हे प्रपन्नवरदे=प्रपन्नानां शरणागतानां वरम् अभीप्सितं ददातीति प्रपन्नवरदा, तत्सम्बुद्धौ–शरणागतों को अभीष्ट प्रदान करनेवाली । गुणगौरि=गुणैः दयादाक्षिण्यादिभिर्गौरी उज्ज्वला तत्सम्बुद्धौ । दया–दाक्षिण्यादि गुणों से पूर्ण । देवि गौरि=गिरिजे । (गौ=गाय । यत् किञ्चित्=जो कुछ ।

परिमितम्=परिमित। क्षीरम्=दूध। स्रवति=टपकाती है (देती है)। तत् च= और उसे। सुपाकं कृत्वा=अच्छी तरह पका कर। यथा=जैसे। कोऽपि=कोई। प्रभवे=स्वामी के लिए। निवेदयति=देता है, तथा=उसी तरह, (इयम्=यह। गौः=वाणी। इह=यहाँ। यत् किञ्चित्=जो कुछ। परिमितम्=परिमित। स्रवति=टपकाती है (स्तुति कर रही है) आकूतवेदिनि–आकूत=रहस्य (को) वेदिनि=जानने वाली देवि। तत्=उसे सुपाकम्=अच्छी तरह पकाकर (उसका स्वारस्य ग्रहणकर) समुचिते समये=उचित समय पर। स्वामिने=प्रभु के लिये। निवेदयितुम्=निवेदन करने के लिये। प्रसीद=प्रसन्न हो।

श्लोकार्थ :—हे शरणागतों को वर देनेवाली ! दया दाक्षिण्यादि गुणों से पूर्ण माँ गिरिजे। जिस प्रकार गो जो कुछ दूध दे, उसे अच्छी तरह अग्नि पर पका कर कोई व्यक्ति किसी महापुरुष को समर्पित करता है, वैसे ही यह मेरी गौ (वाणी) जो कुछ भी परिमित दूध बहा रही है (स्तुति कर रही है) उसे प्रभु के आशय को भली भाँति जानने वाली और अच्छी प्रकार उचित समय पर प्रभु को निवेदित (अर्पित) कर देने की कृपा करें।

विशेष :—यहाँ श्लेष और वृत्यनुप्रास अलंकार है।

स्वेच्छाविकल्पितमदृष्टविशिष्टपाक-
मात्राविहीनमिदमार्यजनैरजुष्टम्।
उन्मत्तभाषितमथापि भवत्यवश्यं
सद्भेषजं विषमयस्य भवामयस्य ॥२८॥

अन्वय :—(यद्यपि) इदम् स्वेच्छ कल्पितम् अदृष्टविशिष्टपाकम् मात्राविहीनम् आर्यजनैः अजुष्टम् उन्मत्तभाषितम् अवश्यं भवति, अथापि इदम् विषमयस्य भवामयस्य सद्भेषजं भवति।

पदार्थ :—(यद्यपि) इदम्=यह। स्वेच्छाविकल्पितम्=स्वतन्त्रता से विनिर्मित। अदृष्टविशिष्टपाकम्=विशिष्टपाक=प्रौढ़ता से रहित। मात्राविहीनम्= परिमाण से रहित। आर्यजनैः=पूज्य लोगों के द्वारा। अजुष्टम्= असेवित। उन्मत्तभाषितम्=उन्मत्तप्रलाप (के समान असङ्गत)। अवश्यम्

भवति=अवश्य है। अथापि=फिर भी। इदम्=यह। विषमयस्य=विषमय। भवामयस्य=भवरोग की। सद्भेषजम्=अच्छी (अचूक) औषधि। भवति=है।

श्लोकार्थ :—यद्यपि यह मेरी वाणी (मेरी स्तुति) अवश्य ही स्वतन्त्रता से विनिर्मित, विशिष्ट पाक (प्रौढ़ता)से रहित, मात्रा (परिमाण)से विहीन, आर्यजनों से असेवित और उन्मत्तप्रलाप के समान असङ्गत है, तथापि यह इस विषमय भवरोग की एकमात्र अचूक औषधि है। अर्थात्, यद्यपि मेरा यह निबन्ध उन्मत्त प्रलाप के समान असमञ्जस होने के कारण सभ्यों को प्रिय न लगेगा, तथापि किन्हीं भव-भय पीड़ित सहृदयों के लिए तो यह अवश्य परम आदरणीय होगा।

विशेष :—यहाँ रूपक और छेकानुप्रास है।

भालानलं तव यथा मुकुटस्थितैव
शक्नोति नो शमयितुं किल सिद्धसिन्धुः।
तद्वज्ज्वलन्तमनिशं हृदि शोकवह्निं
वक्त्रे वसन्त्यपि ममात्र सरस्वतीयम् ॥२६॥

अन्वय :—(हे स्वामिन्) यथा किल तव मुकुटस्थिता एव सिद्धसिन्धुः (तव) भालानलम् शमयितुम् न शक्नोति, तद्वत् मम हृदि अनिशम् ज्वलन्तम् शोकवह्निम् (शमयितुम्) अत्र वसन्ती अपि इयम् सरस्वती (त्वत्कृपां विना) न शक्नोति।

पदार्थ :—(हे स्वामिन्) यथा=जिस प्रकार। किल=निश्चय ही। तव=तुम्हारे। मुकुटस्थिता=मुकुट में स्थित। एव=ही। सिद्धसिन्धुः=देवगंगा। (तव=तुम्हारे) भालानलम्=ललाट स्थित अग्नि को। शमयितुम्=शान्त करने के लिये। न शक्नोति=समर्थ नहीं है। तद्वत्=उसी प्रकार। मम=मेरे। हृदि=हृदयमें। अनिशम्=रात दिन। ज्वलन्तम्=जलते हुए। शोकवह्निम्=शोकाग्नि को। (शमयितुम्=शान्त करने के लिए) अत्र=यहाँ। वसन्ती=निवास करती हुयी। अपि=भी। इयम्=यह। सरस्वती=वाणी। (त्वत्कृपां विना=तुम्हारी कृपा के बिना) न शक्नोति=नहीं समर्थ है।

श्लोकार्थ :—हे नाथ। जैसे आपके मुकुट में ही स्थित देवगंगा आपके ललाट स्थित अग्नि को शान्त करने में समर्थ नहीं हो सकती, ठीक वैसे ही दिन रात मेरे मुख में निवास करती हुयी भी यह मेरी वाणी आपका प्रसादानुग्रह हुये विना समर्थ नहीं हो सकती।

विशेष :—यहाँ उपमा रूपक और छेकानुप्रास है।

प्राक्चेन्मया विहितमाविलमेव कर्म
स्वामिन् कुतस्त्वयि ममैष दृढोऽनुरागः।
एकान्तशुक्लमथ चेदतिदुःसहोऽयं
शोकानलो हृदयदाहकरः किमन्तः।३०॥

अन्वयः—स्वामिन् ! मया प्राक् आविलम् एव कर्म विहितम् चेत् तदा त्वयि मम एष दृढः अनुरागः कुतः स्यात् ? अथ चेत् मया एकान्तशुक्लम् (एव) कर्म विहितम्, तर्हि अयम् अतिदुःसहः हृदयदाहकरः शोकानलः (मम) अन्तः किं स्यात् ?

पदार्थ :— स्वामिन्=हे नाथ ! मया=मेरे द्वारा। प्राक्=पहले (पूर्वजन्म में) आविलम्=दूषित (पाप), । एव=ही । कर्म=कार्य। विहितम्=किया गया (होता) चेत्=यदि। तदा=तो। त्वयि=तुम पर। मम=मेरा। एषः=यह। दृढः अनुरागः= दृढ अनुराग। कुतः=कहां से। स्यात्=होता। अथ चेत्=और यदि। एकान्तशुक्लम्=केवल पुण्य। [एव=ही] कर्म। विहितम्=किया गया होता। तर्हि=तो अयम्=यह। अतिदुःसहः=अत्यन्त दुःसह। हृदयदाहकरः=हृदय में दाह करने वाला। शोकानलः=शोकाग्नि (जरा मरणरूप चिन्ताग्नि) (मम=मेरे) अन्तः= अन्तर में। किं स्यात्=क्यों होता ?

श्लोकार्थः—हे नाथ ! यदि मैंने पूर्वजन्म में केवल कलुषित (पाप) कर्म ही किया होता, तो फिर आप में मेरा यह दृढ़ अनुराग कैसे होता ? और यदि केवल पुण्य ही किया होता, तो फिर हृदय में दाह करने वाला, अत्यन्त दुःसह यह शोकानल (जरामरणरूप चिन्ताग्नि) मेरे अन्तर में क्यों उत्पन्न होता ?

काप्यन्यजन्मनि विधाय विभोरवश्य-
माराधनामनुशयालु मनो ममाभूत्।

नो चेत् कथं कुलगुणादिपवित्रमेत-
त्सर्वं नृजन्म मम निष्फलमेव जातम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—(विभो !) क्वापि अन्यजन्मनि विभोः आराधनाम् विधाय मम मनः अवश्यम् (एव) अनुशयालु अभूत् (इति जाने)। नो चेत् तर्हि कुलगुणादिपवित्रम् (अपि) एतत् मम नृजन्म निष्फलम् एव कथम् जातम् ?

पदार्थः - (विभो !) क्वापि=किसी भी। अन्यजन्मनि=अन्य (दूसरे) जन्म में। विभोः=श्री शम्भु की। आराधनाम् विधाय=आराधना करके। मम=मेरा। मनः=मन। अवश्यम्=अवश्य। (एव=ही) अनुशयालु=पश्चात्ताप से युक्त। अभूत्=हुआ था। (इति जाने=मैं ऐसा समझता हूँ।) नो चेत् तर्हि=यदि ऐसा न होता, तो। कुलगुणादिपवित्रम्=कुल गुण आदि से पवित्र। (अपि =भी) एतत्=यह। मम=मेरा। नृजन्म=मनुष्य जन्म। सर्वम्=पूरा। निष्फलम्=कतिपय फलों वाला। एव=ही। कथम्=कैसे। जातम्=रह जाता ?।

श्लोकार्थः—प्रभो ! (मैं समझता हूँ कि) पहले किसी जन्म में प्रभु की मन वचन से आराधना करके भी मेरा मन (फलप्राप्ति के विषय में) अवश्य ही पश्चात्ताप युक्त हुआ होगा। नहीं तो सत्कुल, गुण आदि से पवित्र होता हुआ भी यह मेरा सारा मनुष्य जीवन निष्फल ही कैसे रह गया ? अर्थात् कुछ ही सफल होकर कैसे रह गया ? अर्थात् तुम्हारा भक्तिरस पाने पर तो सर्वथा साफल्य ही है।

मानुष्यनावमधिगम्य चिरादवाप्य
निस्तारकं च करुणाभरणं भवन्तम्।
यस्याभवद्भरवशस्तरितुं भवाब्धिं
सोऽहं ब्रुडामि वद कस्य विडम्बनेयम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—(प्रभो !) चिराद् मानुष्यनावम् अधिगम्य निस्तारकम् करुणाभरणम् भवन्तम् (च) अवाप्य यस्य भवाब्धिम् तरितुम् भरवशः अभवत्, सः अहम् यदि (तत्रैव) ब्रुडामि, तर्हि इयम् विडम्बना कस्य (भवति ? इति त्वम्) वद।

पदार्थः—(प्रभो !) चिरात्=बहुत दिनों बाद (प्राचीन अनेक जन्मों के बाद) मानुष्यनावम्=मानुषस्य भावो मानुष्यम्, मनुष्यजन्मैव नौस्तरणिस्ताम्

मनुष्यजन्म रूपी नौका को। अधिगम्य=प्राप्त कर। निस्तारकम्=(भवार्णव से) पार करने वाले। करुणाभरणम्=करुणाभूषण। भवन्तम्=आप (प्रभु) को। अवाप्य= प्राप्त कर। यस्य=जिसका। भवाब्धिम्=भवसागर को। तरितुम्=पार करने का भरवशः=भरोसा। अभवत्=हो गया था। सः अहम्=वही मैं। यदि (तत्रैव=वहीं ब्रुडामि=डूबता हूँ। तर्हि=तो। इयम्=यह। विडम्बना=लोकोपहास। कस्य= किसका (भवति=होगा ? इति त्वम्=ऐसा तुम) वद=बोलो।

श्लोकार्थः—हे प्रभो ! अनेक जन्मों बाद इस मनुष्य जन्मरूपी नौका को प्राप्त कर तथा (अनेक जन्मपरम्परा से उपार्जित पुण्यवश) भवार्णव से पार लगाने वाले आप जैसे आशुतोष करुणाभूषण प्रभु को पाकर जिसे (मुझे) इस भवसागर को पार करने का बड़ा विश्वास हो गया था, वही मैं इस भवसागर में डूब रहा हूँ, तो यह विडम्बना किसकी होगी, यह आप ही बतलाइये।

विशेषः—यहाँ रूपक और छेकानुप्रास है।

स्वामी प्रसादमुपकारिषु सेवकेषु
योग्येषु साधुषु करोति किमत्र चित्रम्।
सन्तस्त्वभाजनजनेष्वपि निर्निमित्तं
चित्तं वहन्ति करुणामृतसारसिक्तम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—स्वामी उपकारिषु सेवकेषु योग्येषु साधुषु (यदि) प्रसादं करोति, अत्र किम् चित्रम् ? सन्तः तु अभाजनजनेषु अपि निर्निमित्तं करुणामृतसारसिक्तम् चित्तम् वहन्ति।

पदार्थः—स्वामी=भगवान्। उपकारिषु=(वाणी मन शरीर और कर्म से नित्य उपासना रूपी) उपकार करने वाले। सेवकेषु=सेवा परायण। योग्येषु= शील, कुलाचार आदि सद्गुणों से अलङ्कृत। साधुषु=विनीत भक्तजनों पर (यदि) प्रसादं करोति=प्रसन्न होता है, अत्र=इसमें। किम्=क्या। चित्रम्= आश्चर्य है ? सन्तः तु अभाजनजनेषु अपि=सज्जन लोग तो कुपात्र जनों पर भी। निर्निमित्तम्=अकारण। करुणामृतसारसिक्तम्=करुणारूपी अमृत से आर्द्र। चित्तम्=चित्त को। वहन्ति=धारण करते हैं।

श्लोकार्थः—यदि स्वामी मन, वचन, कर्म द्वारा नित्य अपनी उपासना करने वाले सेवा परायण शील कुलाचार आदि सद्गुणों से अलङ्कृत और

अति विनीत भक्तजनों पर अनुग्रह करें, तो इसमें क्या आश्चर्य है? सन्त पुरुष तो कुपात्र जनों पर भी अकारण अतिशय दयार्द्रचेता हुआ करते हैं।

विशेषः— यहाँ अनुप्रास रूपक और व्यतिरेक अलङ्कार है।

तस्मात्समाप्तसकलाभ्युदयाभ्युपाय-
मायस्तचेतसमसम्भवभग्नवृत्तम्।
सीदन्तमन्तकभयादभयार्पणेन
संभावय स्वयमनर्थकदर्थितं माम्॥ ३४॥

अन्वयः—तस्मात् समाप्तसकलाभ्युदयाभ्युपायम् आयस्तचेतसम् असम्भवभग्नवृत्तम् अन्तकभयात् सीदन्तम् अनर्थकदर्थितम् माम् अभयार्पणेन स्वयम् सम्भावय।

पदार्थः—तस्मात्=इस लिये। समाप्तसकलाभ्युदयाभ्युपायम्=समाप्ताः-समाप्तिं गताः अविद्यमानाः सकला अभ्युदयाभ्युपाया उदयोपाया यस्य तादृशम् अभ्युदय के समस्त उपायों से रहित। आयस्तचेतसम्=आयस्तं सायासं चेतो यस्य स तादृशम्-खिन्न चित्त। असम्भव-भग्नवृत्तम्=असम्भवेन कस्यापि प्रयोजन-भूतवस्तुनोऽभावेन दारिद्रयपर्यायेण भग्नं वृत्तमाचारो यस्य स तादृशम्-प्रयोजन वाली सभी वस्तुओं के अभाव (दरिद्रता) के कारण नष्ट सदाचार। अन्तक-भयात्=मृत्यु के भय से। सीदन्तम्=आर्त। अनर्थकदर्थितम्=जरामरणादि दुःख-व्यथाओं से व्यथित। माम्=मुझे। अभयार्पणेन=अभयदान के द्वारा। स्वयम्=(आप) स्वयम्। सम्भावय=सम्भालिये।

श्लोकार्थः—इसलिए प्रभो! अभ्युदय के समस्त उपायों से रहित, खिन्न चित्त, प्रयोजन वाली सभी वस्तुओं के अभाव (दरिद्रता) के कारण नष्ट सदाचार, मृत्यु के भय से आर्त और जरा-मरणादि दुःख व्यथाओं से व्यथित मुझ दीन को "मत डरो" "मत डरो" ऐसा अभयदान देकर स्वयं आप ही सम्भाल लीजिये।

त्वां नोतिमान् भजति यः स भवत्यनीति-
मुक्तः स यो हि भवता ह्वयान्न मुक्तः।

यस्ते रतोऽपचितयेऽपचितिं स नैति-
तत्त्वां श्रितोऽस्मि भवमस्म्यभवो न कस्मात् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—[हे नाथ !] यः नीतिमान् त्वाम् भजति, सः अनीतिः भवति। यः भवता हृदयात् न मुक्तः, स हि मुक्तः भवति । यः ते अपचितये रतः, सः अपचितिम् न एति । तत् [अहम्] त्वाम् श्रितः अस्मि, तर्हि अभवः कस्मात् न अस्मि ?

पदार्थः—[नाथ !] यः=जो । नीतिमान्=कार्य-अकार्य-विचार में परायण। त्वाम्=आपको । भजति=भजता है । सः=वह । अनीतिः=अविद्यमाना ईतय उपद्रवा यस्य सः–उपद्रव रहित । भवति=होता (हो जाता) है । यः=जो । भवता=आपके द्वारा । हृदयात्=हृदय से । न मुक्तः=मुक्त नहीं किया गया । सः =वह । हि=निश्चय ही । मुक्तः=आत्यन्तिक दुःखों से मुक्त । भवति=हो जाता है । यः=जो । ते=तुम्हारे । अपचितये=पूजा के लिए । रतः=रत है । सः=वह । अपचितिम्=अपचय (हीनता) को । न एति=नहीं प्राप्त होता । तत्=तो । (अहम्=मैं) त्वाम्=आपको । भवम्=भवत्यस्माद् ब्रह्मादिकारणषट्कप्रादुर्भाव इति भवस्तम् ब्रह्मादि जगत्कारणों के भी कारण को । श्रितः अस्मि आश्रित हूँ । तर्हि=तो । अभवः=(अविद्यमानसंसारः) जन्ममरण रूप संसार चक्र से रहित । कस्मात् नास्मि=क्यों नहीं होता हूँ ?

श्लोकार्थः—हे नाथ ! जो नीतिमान् (कार्याकार्य-विचार में परायण) पुरुष आपका भजन करता है, वह अनीति (उपद्रवों से रहित) हो जाता है। जिसे आप अपने हृदय से मुक्त नहीं करते (नहीं त्यागते) वह पुरुष अवश्य ही मुक्त (आत्यन्तिक) दुखों से रहित) हो जाता है। (इसी तरह) जो मनुष्य सदैव आपकी अपचिति (पूजा) में तत्पर रहता है, वह कदापि अपचिति (अपचय या हीनता) को नहीं प्राप्त होता । इसी कारण विभो । मैंने आप भव (ब्रह्मादि जगत्कारणों के भी कारण) की शरण ली है तो फिर मैं अभव (जन्म मरणरूप संसार चक्र से रहित) क्यों नहीं होता ?

विशेषः—यहाँ विरोधाभास अलंकार है। यः नीतिमान् स कथमनीतिः,

यः मुक्तः स कथं न मुक्तः, अपचितिरतोऽपचितिं नैति इस प्रकार का विरोध है। अन्यार्थक होने से इसका परिहार होता है।

स्वापः सचिन्तमनसो निशि मे दुरापो
निर्दाह एव गमयामि कदा सदाहः।
रक्ष त्वदेकवशगं शिव मामवश्यं
कस्माद् भवस्यपरुषो मम कर्कशत्वम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—(विभो !) सचिन्तमनसः मे निशि स्वापः दुरापः (भवति। भवदनुग्रहेण) अहम् निर्दाहः सन् सदा अहः कदा गमयामि ? शिव ! त्वदेकवशगम् माम् अवश्यम् रक्ष। अपरुषः मम त्वम् कर्कशः कस्माद् भवसि ?

पदार्थः—(विभो !) सचिन्तमनसः= (जरामरणचिन्तासहितं मनो यस्य स तादृशस्तस्य) जरामरण के भय से चिन्तित मन वाली। मम=मेरी। स्वापः= निद्रा। दुरापः=दुर्लभ। (भवति=होती है। भवदनुग्रहेण=आपके अनुग्रह से।) अहम्=मैं। निर्दाहः सन्=अन्तर्दाह (चिन्ता) रहित होते हुए। सदा=सर्वदा अहः =दिन। (यहाँ अहन् शब्द के द्वितीया बहुवचन अहानि के स्थान पर। 'अहः' यह एकवचनान्त प्रयोग 'जातावेकवचनम्' के आग्रह से है।) कदा=कब। गमयामि ?=बिताऊँगा ? शिव !=हे शिव ! त्वदेकवशगम्=एक मात्र आपकी ही शरण ग्रहण किये हुए। माम्=मुझको अवश्यम्=अवश्य। रक्ष=रक्षा करो। अपरुषः=(अपगता रुट् रोषो यस्य स तादृशस्य–सुकोमल चित्तवाले। मम=मेरे प्रति कर्कशः=निर्दय। कस्मात् भवसि=क्यों हो रहे हो ?

श्लोकार्थः—हे प्रभो। जरा-मरण के भय से चिन्तित मन होने के कारण-मुझे रात्रि में निद्रा दुर्लभ हो गयी है। भगवन् ! आपके अनुग्रह से मैं आन्तरिक चिन्ता से रहित हो सर्वदा सुखपूर्वक दिन कब बिताया करूँगा ? सदाशिव ! एकमात्र आपकी ही शरण ग्रहण किये मुझ दीन की अवश्य रक्षा कीजिये। प्रभो ! सुकोमल चित्त वाले मेरे प्रति आप इतने कठोर क्यों हो रहे हैं ?

विशेषः—यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है। यः स्वापः सुखेन आप्यायते स कथं दुरापः। तथा यो निर्दाहः स कथं सदाहः, यो वशगः स कथमवश्यः। तथा

योऽपरुषः (कोमलः) स कथं कर्कशः, इस प्रकार का विरोध है अन्यार्थक होने से विरोध का परिहार हो जाता है।

पापः खलोऽहमिति नार्हसि मां विहातु-
किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य।
यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा
तस्मात्तवास्मि सुतरामनुकम्पनीयः॥ ३७॥

अन्वयः—अयम् खलः पापः इति माम् विहातुम् नार्हसि। अकुतोभयस्य कृतमतेः रक्षया किम्? यस्मात् असाधुः अधमः अपुण्यकर्मा अस्मि, तस्मात् तव सुतराम् अनुकम्पनीयः।

पदार्थः—अयम्=यह। खलः=दुष्ट। पापः=पापी (है, ऐसा समझ कर) माम्=मुझे। विहातुम्=छोड़ने के लिए। नार्हसि=योग्य नहीं हो। (क्योंकि) अकुतोभयस्य=(नास्ति कुतोऽपि भयं यस्य स तादृशस्तस्य) सर्वथा निर्भय। कृतमतेः=विद्वानों की। रक्षया=रक्षा से। किम्?=क्या है? यस्मात्=क्योंकि। अहम्=मैं। असाधुः=असज्जन। अधमः=नीच। (और) अपुण्यकर्मा=पापी। अस्मि=हूँ। तस्मात्=अतः। तव=तुम्हारा। सुतरामनुकम्पनीयः=अत्यन्त अनुकम्पनीय हूँ।

श्लोकार्थः—हे प्रभो "यह खल और पापी है" ऐसा समझ कर आप मेरा परित्याग मत कीजिये। क्योंकि सर्वथा निर्भय और पुण्यात्मा को आपकी रक्षा से क्या प्रयोजन है? चूँकि मैं अत्यन्त असज्जन अधम और पापात्मा हूँ, इसीलिए आप परम दयालु का अत्यन्त अनुकम्पनीय हूँ।

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम्।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे-
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः॥ ३८॥

अन्वयः—नाथ! यद्यपि अहम् स्वैः एव कुकृत्यैः अधः गतः। तत्रापि तव अवलेपपात्रम् न अस्मि। हि यः दृप्तः पशुः स्वयम् (एव) अन्धकूपे पतति, तम् अपि कारुणिकः लोकः न उपेक्षते।

पदार्थः—हे नाथ ! यद्यपि । अहम्=मैं । स्वैः=अपने । एव=ही । कुकृत्यैः=कुकर्मों से । अधः गतः=अधोगति को प्राप्त हुआ हूँ । तत्रापि=तथापि । तव=आपके । अवलेपपात्रम्=तिरस्कार का पात्र । न अस्मि=नहीं हूँ । हि=क्यों कि । यः=जो । दृप्तः=उद्धत । पशुः=पशु । स्वयम्=अपने । [एव=ही] अन्धकूपे=अन्धकूप (गड्ढे) में । पतति=गिर जाता है । तम् अपि=उसे भी । कारुणिकः=दयालु । लोकः=संसार । न उपेक्षते= उपेक्षा नही करता ।

श्लोकार्थ :—हे नाथ । यद्यपि मैं अपने ही किये कुकर्मों से इस अधोगति को प्राप्त हुआ हूँ । तथापि आप करुणासागर के तिरस्कार का पात्र नहीं हूँ । यदि तारुण्य के मद में गर्वित कोई उद्धत पशु अपनी ही उद्दण्डता से किसी अन्धकूप में गिर जाता है, तो उसे भी दयालु लोग उपेक्षित नहीं करते, अर्थात् अन्धकूप से निकाल ही लेते हैं ।

विशेष :—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अत्युन्नतान्निजपदाच्चपलश्च्युतोऽयं
भूरीन्भ्रमिष्यति जडप्रकृतिः कुमार्गान् ।
मत्वेति चेत्त्यजसि मामयमीदृगेव
गाङ्गस्त्वया किमिति मूर्ध्नि धृतः प्रवाहः ॥३६॥

अन्वय :—[विभो !] अत्युन्नतात् निजपदात् च्युतः चपलः अयम् जडप्रकृतिः भूरीन् कुमार्गान् भ्रमिष्यति इति मत्वा माम् त्यजसि चेत्, [तर्हि] ईदृग् एव अयम् गाङ्गः प्रवाहः मूर्ध्नि त्वया किमिति धृतः ?

पदार्थ :—[विभो ।] अत्युन्नतात्=अतीव उन्नत । निजपदात्=स्वरूप स्थिति सें । च्युतः= पतित । चपलः=चञ्चल । अयम्=यह । जडप्रकृतिः=जड प्रकृति (दुष्टात्मा) "डलयोरभेदः" इस उक्ति के अनुसार ड के स्थान पर ल के पाठ से 'जलप्रकृतिः' पाठ होगा जिसका अर्थ है—जल की प्रकृति वाला । भूरीन्=बहुत से । कुमार्गान्=बुरे रास्तों पर । भ्रमिष्यति=घूमेगा । इति मत्वा=ऐसा मान कर । माम्=मुझे । त्यजसि चेत्=यदि छोड़ते हो । [तर्हि=तो] ईदृग् एव=इसी तरह । अयम्=यह । गाङ्गः=गङ्गा का । प्रवाहः=प्रवाह । मूर्ध्नि=मस्तक पर । किमिति=क्यों । धृतः=धारण किया है ।

श्लोकार्थः—नाथ ! "अतीव उन्नत, स्वरूप स्थिति से च्युत, चपलस्वभाव यह जडप्रकृति (दुष्टात्मा) अनेक कुमार्गों में भटकेगा" ऐसा सोच कर यदि आप मेरा परित्याग कर रहे हैं, तो इन्हीं अवगुणों से युक्त अत्यन्त उन्नत अपने पद सत्यलोक से च्युत, अतिचञ्चल, जल प्रकृति या अचेतन और कुमार्ग अर्थात् पृथ्वी के मार्ग पर बहने वाले इस गङ्गा-प्रवाह को मस्तक पर क्यों धारण किया है ?

विशेष :—यहाँ शब्दश्लेष तथा विशेष अलङ्कार है।

हन्तायमार्तिमपि नारकिणां धृतश्चे-
न्मूर्ध्ना किलेति वहसे यदि गाङ्गमोघम्।
एतत्तवोचितमनाथजनार्तिभङ्ग-
हेवाकिनो घनघृणामृतसागरस्य ॥४०॥

अन्वय :—[हे नाथ !] अपि चेद् मूर्ध्ना धृतः अयम् किल नारकिणाम् आर्तिम् हन्ता इति, यदि गाङ्गमोघं वहसे [तदा] अनाथजनार्तिभङ्गहेवाकिनः घनघृणामृतसागरस्य तव एतत् उचितम् [एव]।

पदार्थ :—[हे नाथ !] अपि चेद्=और यदि। मूर्ध्ना धृतः=मस्तक पर धारण किया गया। अयम्=यह (गंगा-प्रवाह)। नारकिणाम्=नरको विद्यते येषाम् ते नारकिणः तेषाम् (पातकी लोगों की) आर्तिम्=व्यथा को। हन्ता=दूर करेगा। इति यदि ! गाङ्गमोघम्=गंगा के प्रवाह को। वहसे=धारण करते हो। तदा=तो। अनाथजनार्तिभङ्गहेवाकिनः=अनाथजनानाम्अ-शरणजनों को, आर्ति-भङ्ग-व्यथा को भङ्ग करने में, हेवाकिनः=व्यसनी (का)। घनघृणामृतसागरस्य =घना या घृणा दया, सैवामृतं रसायनं तत्सागरस्य-करुणासागर का। तव= तुम्हारा। एतत्=यह। उचितम् [एव]=उचित ही है।

श्लोकार्थः—"यह गंगा प्रवाह मस्तक पर धारण किया गया रहेगा तो तो निश्चय ही पापी लोगों की पीड़ाओं को दूर करेगा" इस अभिप्राय से यदि आपने इसे अपने मस्तक पर धारण किया हो तो हे नाथ ! यह उचित ही है। [श्लोक सं० ३९, ४० तथा आगामी ४१ परस्पर सम्बद्ध हैं। इस प्रकार तीन

श्लोकों के परस्पर सम्बद्ध होने के कारण इसे तिलक कहा जाता है। अतः सम्पूर्ण अर्थ की विवृति आगे होगी]

विशेषः—यहाँ छेकानुप्रास और रूपक अलकार है।

अस्मादृशस्य रसना तु सहस्रधेयं
गच्छेदवाप्य तव शीर्षमितीरयन्ती।
किन्तूद्धरामि भवदग्रपदावमर्श—
मात्रादहं त्रिजगतीमिति मे प्रतिज्ञा ॥४१॥

अन्वयः—अस्मादृशस्य इयम् रसना तु तव शीर्षम् अवाप्य ['गङ्गावत सुखम् तिष्ठामि'] इति ईरयन्ती सहस्रधा गच्छेत्, किन्तु भवदग्रपदावमर्शमात्रात् अहम् त्रिजगतीम् [क्षणात्] उद्धरामि इति मे प्रतिज्ञा।

पदार्थः—अस्मादृशस्य=मेरे सदृश [भक्त की] इयम्=यह। रसना=जीभ। तु=तो। तव=तुम्हारे। शीर्षम्=सिर को। अवाप्य=प्राप्त कर ["गंगा की तरह सुख पूर्वक सिर पर बैठूं"] इति ईरयन्ती=ऐसा कहती हुयी। सहस्रधा गच्छेत्=खण्ड खण्ड हो जाय। किन्तु। भवदग्रपदावमर्शमात्रात्=आपके चरणाग्र के स्पर्श मात्र से। अहम्=मैं। त्रिजगतीम्=तीनों लोकों को। [क्षणात्=क्षण भर में] उद्धरामि=उद्धृत कर दूंगा। इति में प्रतिज्ञा=ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है।

श्लोकार्थः—[हे नाथ ! उपर्युक्त स्थिति में] हम जैसे भक्तों की रसना यदि यह कहने की धृष्टता करे कि 'नाथ। मैं भी आपके मस्तक पर गङ्गा के समान सुख पूर्वक रहूंगी,' तो इसके टुकड़े-टुकड़े हो जायें। किन्तु मेरी तो यही प्रतिज्ञा है कि मैं केवल आपके चरणाग्र के स्पर्श मात्र से क्षण भर में त्रैलोक्य का उद्धार कर दूंगा [केवल पापियों के उद्धार का तो कहना ही क्या है]।

क्षामो निकामजडिमा कुटिलः कलावान्
दोषाकरोऽयमिति चेत्त्यजसि प्रभो माम्।
एतादृशैरुपगतोऽपि समस्तदोषैः
कस्मात्त्वया शिरसि नाथ धृतः शशांकः ॥४२॥

अन्वयः—[हे प्रभो !] अयम् क्षामः निकामजडिमा कुटिलः कलावान्

दोषाकरः इति चेत् माम् त्यजसि [तर्हि] नाथ ! एतादृशैः समस्तदोषैः उपगतः अपि अयम् शशाङ्कः त्वया शिरसि कस्मात् धृतः ?

पदार्थः—[हे प्रभो !] अयम्=यह । क्षामः=अत्यन्त कृश । निकामजडिमा=निकामं नितरां जडिमा मौर्ख्यं यस्य स तादृक्-अत्यन्त मूर्ख (पक्षान्तर में—अत्यन्त शीतांशु) । कुटिलः=कुटिल (अन्तःकरण वाला) (पक्षान्तर में—वक्र) । कलावान्=ठगने की कला में चतुर (पक्षान्तर में—१६ कलाओं से युक्त) । दोषाकरः=दोषों की खान (पक्षान्तर में—दोषां (रात्रि) करोतीति—रात्रि को करने वाला ।) इति चेत्=ऐसा समझ कर यदि । माम्=मुझे । त्यजसि=छोड़ते हो । [तर्हि=तो] नाथ । एतादृशैः=इस प्रकार के । समस्तदोषैः=सभी दोषों से । उपगतः=युक्त । अपि=भी । अयम्=यह । शशांकः=चन्द्रमा । त्वया=तुम्हारे द्वारा । शिरसि=सिर पर । कस्मात्=क्यों । धृतः=धारण किया गया है ?

श्लोकार्थः—हे प्रभो ! "यह प्राणी अत्यन्त कृश, सर्वथा जड़, कुटिल अन्तः करण, कलावान् (ठगने की कला में चतुर) और दोषाकर (दोषों की खान) है" ऐसा समझकर यदि आप मेरा परित्याग करते हैं, तो फिर हे नाथ ! आपने ऐसे ही अवगुणों वाले शशाङ्क (कलंकी चन्द्रमा को क्यों मस्तक पर धारण किया ? यह भी तो अत्यन्त कृश अतिशय जडिमा (शीतलता) वाला, कुटिल (टेढ़ा) कलावान् (कलायुक्त) और दोषाकर (रात्रि में उदय होने वाला) है ।

विशेषः—यहाँ श्लेषोपमा ध्वनि है ।

शान्ताकृतिर्द्विजपतिर्विमलः कलङ्क—
मुक्तः किलेति यदि मूर्ध्नि विधुं बिभर्षि ।
एवंविधोऽपि भवता कथमङ्घ्रिपीठ—
प्रान्तेऽपि धर्तुमुचितो न समर्थितोऽहम् ॥४३॥

अन्वयः—किल [अयम्] शान्ताकृतिः द्विजपतिः विमलः कलङ्कमुक्तः इति यदि त्वम् विधुम् मूर्ध्नि बिभर्षि, [तर्हि] एवंविधः अपि अहम् भवता अङ्घ्रिपीठप्रान्ते अपि धर्तुम् उचितः कथम् न समर्थितः ?

पदार्थः—किल=निश्चय ही। [अयम्=यह] शान्ताकृतिः=शान्ता, अति शीतलगुत्वात् आकृतिर्यस्य=शान्त आकृति वाला, (पक्षान्तर में—शान्ता शमदमादियुक्ता आकृतिर्यस्य)। द्विजपतिः=द्विजानां नक्षत्राणां पतिः—नक्षत्रों का स्वामी, (पक्षान्तर में–द्विजानामग्र्यजन्मनां पतिः-ब्राह्मण) विमलः=स्वच्छ। कलङ्कमुक्तः=निष्कलङ्क, (है)। इति यदि=ऐसा समझ कर यदि। त्वम्=तुम। विधुम्=चन्द्रमा को। मूर्ध्नि=मस्तक पर। विभर्षि=धारण करते हो। [तर्हि=तो] एवंविधः=इसी प्रकार का। अपि=भी। अहम्=मैं। भवता=आपके द्वारा। अङ्घ्रिपीठान्ते=पादपीठ के एक कोने में। अपि=भी। धर्तुम्=धारण करने के लिए। उचितः=उचित। कथम्=क्यों। न=नहीं। समर्थितः=समर्थित हुआ ?

श्लोकार्थ :—"निश्चय ही यह चन्द्रमा शान्त आकृति वाला, द्विजपति (नक्षत्रों का स्वामी) स्वच्छ और निष्कलंक है" इसी कारण यदि आप इसे मस्तक पर धारण किये हों, तो मैं भी ऐसा ही 'शान्त आकृति वाला द्विजपति (ब्राह्मण श्रेष्ठ) स्वच्छ (निष्पाप) और निष्कलंक हूं'। फिर मुझे सिर चढ़ाना तो दूर, आपने अपने पाद पीठ के एक कोने में भी बैठाने योग्य क्यों नहीं माना ?

विशेष :—यहाँ त्रिरावृत छेकानुप्रास तथा श्लेषोपमा ध्वनि है।

पापग्रहो धृतिमुपैति विना परेषां
न स्वापहारमयमित्यथ मां जहासि।
एवंविधोऽपि तव दक्षिणदृष्टिपात-
पात्रत्वमीश्वर कथं रुचिमानुपेतः ॥४४॥

अन्वय : ईश्वर। अथ अयम् पापग्रहः परेषाम् स्वापहारम् विना धृतिम् न उपैति, इति माम् जहासि चेत्, [तर्हि] एवंविधः अपि रुचिमान् तव दक्षिणदृष्टिपातपात्रत्वम् कथम् उपेतः ?

पदार्थ :—ईश्वर ! अथ=यदि (और यह समझ कर कि) अयम्=यह। पापग्रहः=(पापे ग्रहो हेवाको यस्य सः) पापात्मा (पक्षान्तर में —अनिष्टफलदायी ग्रह)। परेषाम्=दूसरों के। स्वापहारम्=स्वस्य धनस्यापहारोऽपहरणम्—द्रव्य का अपहरण (पक्षान्तर में—परेषां जनानां तापस्य निद्राया हारो

हरणं तम्-निद्राहरण। विना। धृतिम्=धैर्य को। न उपैति=नहीं प्राप्त होता। इति=ऐसा समझकर। माम्=मुझे। जहासि=छोड़ते हो। चेत् [तर्हि]=यदि, तो। एवंविधः=ऐसा। एव=ही। रुचिमान्=सूर्य ने। तव=तुम्हारे। दक्षिणदृष्टिपातपात्रत्वम्=दक्षिणा या दृष्टिः लोचनं तत्र पातो दर्शनं पक्षपातः स्नेहश्च तत्पात्रत्वम्-दक्षिण नेत्र में सस्नेह स्थान। कथम्=कैसे। उपेतः=प्राप्त किया।

श्लोकार्थ :—परमेश्वर ! यदि आप यह समझ कर कि "यह पापात्मा दूसरों के स्व (द्रव्य) का अपहरण किये विना चैन नहीं पाता" मेरा त्याग करते हों, तो इस लालची सूर्य को आपने अपने दक्षिण नेत्र में सस्नेह कैसे स्थान दे दिया ? क्यों कि वह भी तो पापग्रह (अनिष्ठ फलदायी ग्रह) है और सब लोगों के स्वाप (निद्रा) का हरण किये विना चैन नहीं लेता।

विशेष :—यहाँ शब्दश्लेष अलंकार तथा उपमालंकार की ध्वनि है।

मित्रत्वमेष भवतो गुणिबन्धुतां च
प्रख्याप्य चेदुपगतस्तव वल्लभत्वम्।
दासत्वमेव तव नित्यमुपेत्य भूत्वा
सेवापरश्च गुणिनां कथमप्रियोऽहम् ॥४५॥

अन्वय :—एषः भवतः मित्रत्वम् गुणिबन्धुताम् च प्रख्याप्य तव वल्लभत्वम् उपगतः चेत्, [तर्हि] नित्यम् तव दासत्वम् एव उपेत्य गुणिनां सेवापरः च भूत्वा अहम् कथम् तव अप्रियः [अस्मि ?]।

पदार्थ :—एषः=यह (सूर्य)। भवतः=आपसे। मित्रत्वम्=[मेद्यति स्नेहयति भूमिं मित्रः सूर्यस्तत्त्वम् सखित्वम् च] सबके साथ मैत्री भाव। (और) गुणिबन्धुताम्=[गुणाः सूक्ष्मतन्तवो विद्यन्ते येषां ते गुणिनः पद्मानि तेषां बान्धवः, विकासकत्वात्, तथा गुणिनां दयादाक्षिण्यादिगुणयुक्तानां बन्धुस्तद्भावस्ताम्] कमल या दयादाक्षिण्यादि गुणवानों से बन्धुता को। प्रख्याप्य=विज्ञापित करके। तव=तुम्हारा। वल्लभत्वम्=प्रेमपात्रता को। उपगतः=प्राप्त कर लिया है। चेत् [तर्हि]=यदि, तो। नित्यम्=नित्य। दासत्वम्=[दीयतेऽस्मै स्वामिना सर्वं यथाभिलषितमिति दासस्तस्य भावस्त-

त्वम्] दासत्व को । एव=ही । उपेत्य=प्राप्त कर । गुणिनाम्=गुणियों की । सेवापरः=सेवा में तत्परः । भूत्वा=होकर । च=भी । अहम्=मैं । कथम्=क्यों । तव=तुम्हारा । अप्रियः [अस्मि]=अप्रिय हूं ?

श्लोकार्थ :—यदि यह सूर्य आपसे अपना मित्रत्व (सबके साथ मित्र भाव और गुणिबन्धुता (कमल या दयादाक्षिण्यादिगुणवानों से बन्धुता) का विज्ञापन कर आपका प्रेमपात्र बन गया है, तो फिर नित्य आपका दास बनकर और गुणवानों की सेवा में परायण होकर भी मैं क्यों आपको अप्रिय हूं ?

विशेष :—श्लेषमूलक विषमालंकार तथा छेकानुप्रास है।

अत्यूष्मलं मलिनमार्गमनेकजिह्वं
स्पर्शेऽप्यनर्हमवधार्य जहासि चेन्माम् ।
एतादृशोऽपि शुभदृष्टिनिवेशनस्य
पात्रीकृतः कथमयं भवताश्रयाशः ॥४६॥

अन्वय :—अत्यूष्मलम् मलिनमार्गम् अनेकजिह्वम् स्पर्शे अपि अनर्हम् अवधार्य माम् जहासि चेत्, [तर्हि] एतादृशः अपि अयम् आश्रयाशः भवता शुभदृष्टिनिवेशनस्य कथम् पात्रीकृतः ?

पदार्थ :—[हे प्रभो !] अत्यूष्मलम्=अतिशयेन संतापकरम् । सगर्वम्—सगर्व । मलिनमार्गम्=मलिनः पापः मार्गो यस्य, तादृशम्—पापकर्मा । अनेकजिह्वम्=अनेका जिह्वाः क्षणं क्षणमसत्यवादितया यस्य स तादृशम्-क्षण क्षण में असत्य बोलने वाला । स्पर्शे अपि अनर्हम्=स्पर्श के भी अयोग्य । अवधार्य=निश्चित करके । माम्=मुझे । जहासि=छोड़ रहे हो । चेत्, [तर्हि]=यदि, तो । एतादृशः=इस प्रकार का (अत्यूष्मलः=अतिसंतापवान्, मलिनमार्गः=अपने मार्ग को काला करने वाला, अनेकजिह्वः=सप्तजिह्व, स्पर्शे अपि अनर्हः=स्पर्श के भी अयोग्य) अपि=भी । अयम्=यह । आश्रयाशः=हुताश (आहुति) को खाने वाला (अग्नि) । भवता=आपके द्वारा । शुभदृष्टिनिवेशनस्य=(शुभा दृष्टिः तृतीयलोचनम् सपक्षपातावलोकनं च, तस्यां निवेशनम् स्थापनं तस्य) तीसरे नेत्र में स्थापित करने का । कथम्=कैसे । पात्रीकृतः=पात्र बना लिया गया ?

श्लोकार्थ :—हे प्रभो ! यदि मुझे अत्यूष्मल (अत्यन्त गर्वित) मलिन मार्ग (पापकर्मा) अनेकजिह्व (क्षण-क्षण में असत्य बोलने वाला) और स्पर्श के भी अयोग्य समझ कर आप मेरा परित्याग करते हों तो फिर आपने ठीक ऐसे ही इस आश्रयाश (अग्नि) को सपक्षपात अपने तृतीय नेत्र में क्यों धारण किया है ? कारण यह भी तो अत्यूष्मल (अत्यन्त तपाने वाला) मलिनमार्ग (कृष्णवर्त्मा अर्थात् अपने गन्तव्य मार्ग को धूमिल बनाने वाला) अनेक जिह्व (सात जिह्वाओं वाला) और उष्ण होने के कारण स्पर्श के भी अयोग्य है।

विशेष :—यहाँ "आश्रयाशः" पद साभिप्राय है—अर्थात् जो (निजम् आश्रयमेव अश्नाति इति आश्रयाशः) अपने आश्रय अर्थात् निवासस्थान या आश्रयदाता को ही चट कर डालता है उसे भी जब आपने अपनी शरण में ले लिया, तब मुझे क्यों नहीं अपनाते ? यहाँ श्लेष तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

यद् बन्धुजीवदलसद्रुचिरर्थिभाव—
मायाति साधु विबुधव्रजजीवनाय।
यन्मित्रमण्डलमुखेन च विश्वमेष
पुष्णाति तेन दहने यदि सादरोऽसि ॥४७॥

अन्वयः—बन्धुजीवदलसद्रुचिः एषः यद् विबुधव्रजजीवनाय अर्थिभावम् साधु आयाति, यत् च मित्रमण्डलमुखेन विश्वम् पुष्णाति, तेन यदि दहने सादरः असि।

पदार्थ :—बन्धुजीवदलसद्रुचिः=बन्धुजीवाख्यानि लोहितपुष्पाणि, तेषां दलानि तद्वत्सती शोभना रुचिर्यस्य सः—बन्धुजीव नामक रक्त पुष्प के दल के समान मनोहर कान्ति वाला, (पक्षान्तर में—बन्धूनां बान्धवानां जीवं ददाति तादृशी लसन्ती रुचिर्यस्य स तादृशः=बन्धुजनों का जीवन चलाने वाला) एषः=यह (अग्नि)। यत्=जो विबुधव्रजजीवनाय=विबुधानां देवानां व्रजः समूहस्तस्य जीवनायाप्यायनाय-देवताओं को आप्यायित करने के लिये, (पक्षान्तर में—विबुधानां विदुषां व्रजस्तेषां जीवनाय=विद्वानों को तृप्त करने के लिये) अर्थिभावम्=प्रार्थी भाव को (प्रथम पक्ष में आज्यादि की आहुति ग्रहण करते हुये तथा द्वितीय पक्ष में याचक बन कर) साधु आयाति=प्राप्त होता है।

यत् च=और जो। मित्रमण्डलमुखेन=सूर्य मण्डल द्वारा, अथवा मित्रमण्डल द्वारा। विश्वम्=संसार को। पुष्णाति=पोषित करता है। तेन=उस कारण से। यदि। दहने=अग्नि पर। सादरोऽसि=आदरवान् हैं।

श्लोकार्थ :—यह अग्नि बन्धुजीव नामक रक्त पुष्प के दल के समान सुमनोहर कान्तिवाला है, विबुधगणों (देवगणों) के जीवन निर्वाहार्थ (आज्यादि की आहुति ग्रहण करते हुए) भली भाँति याचक बनता है। और सायंकाल मित्र मण्डल (सूर्य मण्डल) के द्वारा विश्व का पोषण करता है। प्रभो ! इसी कारण यदि आप इस 'दहन' को सादर नेत्र में धारण किये हों।

विशेष :—शेष अर्थ अग्रिम २ श्लोकों से व्यक्त होगा। श्लोक सं० ४७ ४८-४९ परस्पर सम्बद्ध हैं, अतः इसे तिलक कहा जाता है। यहाँ अनुप्रास और श्लेष अलङ्कार है।

आप्यायनं सुमनसामनिशं विधातु—
मर्थीभवामि यदि कोऽपि न मेऽस्ति दाता।
कर्तुं च बन्धुजनजीवनमक्षमोऽहं—
विश्वं च पोषयितुमीश सुहृन्मुखेन ॥४८॥

अन्वयः—[हे ईश !] सुमनसाम् अनिशम् आप्यायनम् विधातुम् यदि अर्थीभवामि, तर्हि कः अपि दाता मे नास्ति। अहम् बन्धुजनजीवनम् कर्तुम् सुहृन्मुखेन विश्वं पोषयितुम् च अक्षमः अस्मि।

पदार्थः—[हे ईश !] सुमनसाम्=देवताओं का, अथवा विद्वानों का। अनिशम्=सदा। आप्यायनम्=जीवन—तर्पण। विधातुम्=करने के लिए। यदि अर्थीभवामि=यदि मैं प्रार्थी होता हूँ। तर्हि=तो। कः अपि=कोई भी। दाता। मे=मेरे लिए। नास्ति=नहीं है। अहम्=मैं। बन्धुजनजीवनम् कर्तुम्=बन्धुजनों का जीवन चलाने। (और) सुहृन्मुखेन=मित्रमण्डल द्वारा। विश्वं पोषयितुं च=विश्व का पोषण करने में भी। अक्षमः अस्मि=अक्षम हूँ।

श्लोकार्थः—हे नाथ ! यदि मैं देवताओं तथा विद्वानों को सदा तृप्त करने के लिए याचक बन जाऊँ। तो कोई भी ऐसा दाता नहीं मिलता, जो

मेरे द्वारा उनकी तृप्ति करे। अत एव मैं बन्धुजनों का जीवन चलाने एवं मित्र मण्डल द्वारा विश्व का पोषण करने के लिए भी असमर्थ हूँ।

विशेषः—यहाँ श्लेष तथा छेकानुप्रास है।

> **तेनात्र मां निरपराधमवेहि देहि**
> **दृष्टिं प्रसादविशदाममृतद्रवार्द्राम्।**
> **दीनं दयास्पदमदभ्रमदभ्रमेण**
> **भ्रूविभ्रमेण सदयं भज भङ्गुरेण ॥४९॥**

अन्वयः—तेन अत्र माम् निरपराधम् अवेहि, प्रसादविशदाम् अमृतद्रवार्द्राम् दृष्टिम् देहि, दयास्पदम् दीनम् अदभ्रमदभ्रमेण भङ्गुरेण भ्रूविभ्रमेण सदयम् भज।

पदार्थः—तेन=अतः। अत्र=इन पूर्वोक्त विषयों में। माम्=मुझे। निरपराधम्=निरपराध। अवेहि=समझें। प्रसादविशदाम्=प्रसाद (प्रसन्नता) से विशद (निर्मल) अमृतद्रवार्द्राम्=कृपामृत के रस से आर्द्र। दृष्टिम्=दृष्टि को। देहि=प्रदान करें। दयास्पदम्=कृपापात्र। दीनम्=दीन को। अदभ्रमदभ्रमेण=अदभ्रेण प्रचुरेण मदेन हर्षेण भ्रमो यस्य स तादृशेन—अत्यन्त मद से मत्त। भंगुरेण=तिरछे। भ्रूविभ्रमेण=कटाक्षों से। सदयम्=दया पूर्वक। भज=स्वीकार करें।

श्लोकार्थः—इस लिये हे ईश! इन पूर्वोक्त विषयों में आप मुझे निरपराध ही समझिये, प्रसन्नता से निर्मल और अमृत द्रव से आर्द्र दृष्टि द्वारा अनुगृहीत कीजिये और मुझ दीन कृपापात्र को हर्ष से अत्यन्त मत्त कटाक्षों से सदय स्वीकार कीजिये।

विशेषः—यहाँ वृत्त्यनुप्रास तथा छेकानुप्रास है।

> **अन्वग्रहीरमलदृष्टिसमर्पणेन**
> **मित्रं शुचिं द्विजपतिं यदि युक्तमेतत्।**
> **एवंविधेऽपि भगवन् दृशमप्रसन्नाम्**
> **धत्से मयीति विधिरेष पराङ्मुखो मे ॥५०॥**

अन्वयः—भगवन्! यदि अमलदृष्टिसमर्पणेन मित्रम् शुचिम् द्विजपतिम्

[च] अन्वग्रहीः, एतत् युक्तम् । एवं विधे अपि मयि यत् अप्रसन्नाम् दृशम् धत्से, एषः मे विधिः पराङ्मुखः [अस्ति ।]

पदार्थः—भगवन् ! शम्भो ! यदि । (आपने) अमलदृष्टिसमर्पणेन= निर्मल दृष्टि समर्पण के द्वारा । मित्रम्=सूर्य को । शुचिम्=अग्नि को । द्विजपतिम् च=और चन्द्रमा को । अन्वग्रहीः=अनुगृहीत किया । एतत् युक्तम्=यह उचित है । एवंविधे=इसी प्रकार के । मयि=मुझ पर । यत्=जो । अप्रसन्नाम्=अप्रसन्न । दृशम्=दृष्टि को । धत्से=धारण करते हो । एषः=यह । मे=मेरे (ऊपर) विधिः= भाग्य । पराङ्मुखः=प्रतिकूल । [अस्ति=है] ।

श्लोकार्थः—भगवन् ! आपने जो मित्र (सूर्य) शुचि (अग्नि) और द्विजपति (चन्द्रमा) को अपनी विमल दृष्टि (निर्मल नेत्रों) में स्थान देकर इन पर अनुग्रह किया है, यह तो उचित ही है । परन्तु ठीक इसी प्रकार के मुझ मित्र (प्राणि मात्र के मित्र) शुचि (पवित्र निर्दोष) और द्विजपति (श्रेष्ठ ब्राह्मण) पर जो प्रसन्न नहीं होते, यह मेरा भाग्य ही प्रतिकूल है, अर्थात् यह मेरे ही दुर्भाग्य की महिमा है । इसमें आपका कोई दोष नहीं है ।

विशेषः—यहाँ श्लेषमूलक विषमालङ्कार है ।

> **निष्कर्ण एष कुसृतिव्यसनी द्विजिह्वो**
> **मत्वेति चेत्यजसि निःशरणं प्रभो माम् ।**
> **एतादृशोऽपि पवनाशन एष कस्मा—**
> **च्छ्रीकण्ठ कण्ठपुलिने भवता गृहीतः ॥५१॥**

अन्वयः—[प्रभो !] एषः निष्कर्णः कुसृति-व्यसनी द्विजिह्वः [च अस्ति] इति मत्वा माम् निःशरणं त्यजसि चेत् [तर्हि] श्रीकण्ठ ! एतादृशः अपि एषः पवनाशनः भवता कण्ठपुलिने कस्माद् गृहीतः ?

पदार्थः—[प्रभो !] एषः=यह । निष्कर्णः=(पुरुष पक्ष में—किसी की बातों को न सुनने वाला) (सर्प पक्ष में कर्ण रहित अर्थात् नेत्रों से सुनने वाला) । कुसृतिव्यसनी=(पुरुष पक्ष में—कुमार्गगामी) (सर्प पक्ष में—की भूमी सृति। सरणम् तत्र व्यसनी-अर्थात् भूमि पर सरक कर चलने वाला) । द्विजिह्वः=(पुरुष पक्ष में—असत्यवादी) (सर्प पक्ष में—दो जीभों वाला) ।

[अस्ति=है] इति मत्वा=ऐसा मानकर। माम्=मुझे। निःशरणम्=बिना किसी आश्रय के। त्यजसि=छोड़ देते हो। चेत् (तर्हि)=यदि, तो। श्रीकण्ठ! एतादृशः अपि=ऐसा ही। एषः=यह। पवनाशनः=वायु खाने वाला (सर्प) भवता=आपके द्वारा। कण्ठपुलिने=कण्ठतट पर। कस्मात्=क्यों। गृहीतः= धारण किया गया है ?

श्लोकार्थः—प्रभो! 'यह पुरुष निष्कर्ण (किसी की बातों को न सुनने वाला) कुसृतिव्यसनी (कुमार्गगामी) और द्विजिह्व (असत्यवादी) है' ऐसा समझ कर आप मेरा परित्याग कर रहे हों, तो फिर श्रीकण्ठ। इन्हीं सब दोषों से भरे अर्थात् निष्कर्ण (कर्णहीन) कु-सृतिगामी (पृथ्वी में सरक कर चलने वाले) और द्विजिह्व (दो जिह्वाओं वाले) सर्प को आपने कण्ठ में क्यों धारण किया है ?

विशेषः—यहाँ श्लेष और यमक अलङ्कार है।

जिहवासहस्त्रयुगलेन पुरा स्तुतस्त्व—
मेतेन तेन यदि तिष्ठति कण्ठपीठे।
एकैव मे तव नुतौ रसनास्ति तेन
स्थानं महेश भवदङ्घ्रितले ममास्तु॥५२॥

अन्वयः—महेश! एतेन पुरा जिह्वासहस्त्रयुगलेन त्वम् स्तुतः, तेन यदि [सः तव] कण्ठपीठे तिष्ठति, [तदा] मे तव नुतौ एका एव रसना अस्ति, तेन भवदङ्घ्रितले [एव] मम स्थानम् अस्तु।

पदार्थः—महेश। एतेन=इस (सर्पराज वासुकि) के द्वारा। पुरा=पहले [किसी जन्म में शेषनाग के रूप में] जिह्वासहस्त्रयुगलेन=दो हजार जिह्वाओं से [शेषनाग के एक सहस्र सिर तथा प्रत्येक सिर में दो जिह्वा होने के कारण] त्वम्=तुम (आप)। स्तुतः=स्तुत हुये थे। तेन=उस कारण से। यदि। [सः तव=वह आपके] कण्ठपीठे=कण्ठस्थान पर। तिष्ठति=रहता है। [तत्= तो] मे=मेरी। तव नुतौ=तुम्हारी स्तुति में। एक एव=एक ही। रसना= जिह्वा। अस्ति=है। तेन=उस कारण से। भवदङ्घ्रितले=आपके चरणतल में [एव=ही] मम=मेरा। स्थानम्=स्थान। अस्तु=हो।

श्लोकार्थः—महेश ! इस सर्पराज वासुकि ने पहले [किसी जन्म में शेषनाग के रूप में] अपनी दो हजार जिह्वाओं से, [चिरकाल तक] आपकी स्तुति की थी। उसी स्तुति से अत्यन्त प्रसन्न होकर यदि आपने इसे अपने कण्ठ पीठ में स्थान दिया हो, तो मेरे पास आपकी स्तुति करने के लिये एक ही जिह्वा है, अतः [मुझे इसकी बराबरी का स्थान देना नहीं चाहते हों तो प्रभो। केवल इतनी ही कृपा करें कि] आपके चरण-तल में ही मेरा निवास हो जाय।

विशेषः—यहाँ व्यतिरेक ध्वनि और छेकानुप्रास है।

शृङ्गी विवेकरहितः पशुरुन्मदोऽयं
मत्वेति चेत्परिहरस्यतिकातरं माम्।
एवंविधोऽपि वृषभश्चरणार्पणेन
नीतस्त्वया कथमनुग्रहभाजनत्वम् ॥५३॥

अन्वयः—अयम् शृङ्गी विवेकरहितः पशुः उन्मदः इति मत्वा अतिकातरम् माम् परिहरसि चेत्, एवं विधः अपि वृषभः त्वया चरणार्पणेन अनुग्रहभाजनत्वम् कथम् नीतः ?

पदार्थः—[हे महेश !] अयम्=यह (पुरुष)। शृङ्गी=(पुरुष पक्ष में-अत्यन्त गर्ववान्) (वृषभ पक्ष में-सींग वाला।) विवेकरहितः=विवेक रहित (निर्विवेक) पशुः(पुरुष पक्ष में-पशु सदृश) (वृषभ पक्ष में-पशु। उन्मदः=नशे में चूर) (पागल)। इति मत्वा=ऐसा मानकर। अतिकातरम्=अति दीन। माम्=मुझको। परिहरसि=परित्याग करते हों। चेत्=यदि। एवंविधः=ऐसा। अपि=ही। वृषभः=बैल (नन्दी)। त्वया=आपके द्वारा। चरणार्पणेन=चरण अर्पित कर। अनुग्रहभाजनत्वम्=अनुग्रह की पात्रता को। कथम्=कैसे। नीतः=प्राप्त कराया गया।

श्लोकार्थः—'यह पुरुष शृङ्गी (अत्यन्त अहङ्कारी) विवेक रहित, पशु-सदृश और उन्मत्त है। ऐसा समझ कर यदि आप मुझ दीनका परित्याग कर रहे हों, तो फिर आपने ठीक मेरे ही जैसे—शृङ्गी (सींगवाले) विवेक रहित पशु

और उन्मद बैल (नन्दी) को भी अपने चरण-कमल अर्पित कर अनुग्रह का पात्र कैसे बना लिया ?

विशेषः —यहाँ श्लेष और छेकानुप्रास है ।

पृष्ठे भवन्तमयमुद्वहते कदाचि—
देतावता यदि तवैति दयास्पदत्वम् ।
स्वामिन्नहं तु हृदयेऽन्वहमुद्वहामि
त्वामित्यतः कथमहो न तवानुकम्प्यः ॥५४॥

अन्वयः— अयम् कदाचिद् भवन्तम् पृष्ठे उद्वहते, एतावता यदि तव दयास्पदत्वम् एति, [तर्हि] स्वामिन् । अहम् तु अन्वहम् त्वाम् हृदये उद्वहामि, इति अतः अहो ! [अहम्] कथम् न तव अनुकम्प्यः ?

पदार्थः—अयम्=यह (बैल) । कदाचित्=कभी कभी । भवन्तम्=आपको । पृष्ठे=पीठ पर । उद्वहति=ढोता है । एतावता=इतने से । यदि ! तव=तुम्हारी । दयास्पदत्वम्=दया की पात्रता को । एति=प्राप्त हुआ है, [तर्हि=तो] स्वामिन्=नाथ । अहम्=मैं । तु=तो । अन्वहम्=प्रतिक्षण । त्वाम्=तुमको (आप को) हृदये=हृदय पर (में) वहामि=ढोता हूँ । इति अहो=आश्चर्य है (कि) । अहम्=मैं । कथम्=क्यों । न=नहीं । तव=तुम्हारी । अनुकम्प्यः=अनुकम्पा के योग्य (हूँ ?) ।

श्लोकार्थः—प्रभो ! [जब आपको कहीं जाने की इच्छा होती है, तब] यह बैल आपको कभी-कभी अपनी पीठ पर बैठा लेता है । यदि इसी कारण यह आपकी दया का पात्र बना है, तो स्वामिन् ! [यह वृषभ तो आपकी इच्छा के अनुसार इधर उधर कभी कभी ले जाता है, किन्तु] मैं तो आपको प्रतिक्षण अपने हृदय में वहन करता हूँ, अहो ! बड़े आश्चर्य की बात है कि फिर भी मैं क्यों आपका अनुकम्पनीय (दया पात्र) नहीं हूँ ?

विशेष :—यहाँ काव्यलिङ्ग और व्यतिरेक ध्वनि है ।

क्रूरः पराङ्मुखमसावनृजुर्जहाति
योग्यं गुणग्रहणकर्मणि मार्गणौघम् ।

मत्वेति चेत्त्यजसि मां कथमीदृगेव
स्वामिन् धृतः करतले भवता पिनाकः ।।५५।।

अन्वय :—असौ क्रूरः अनृजुः गुणग्रहणकर्मणि योग्यम् मार्गणौघम् पराङ्मुखम् [कृत्वा] जहाति, इति मत्वा माम् त्यजसि चेत्, [तर्हि] स्वामिन् ! ईदृग् एव पिनाकः भवता करतले कथम् धृतः ?

पदार्थ :—असौ=यह (पुरुष) क्रूरः=क्रूर (कठोर) अनृजुः=कुटिल । (और) गुणग्रहणकर्मणि=(पुरुष पक्ष में—गुण ग्रहण करने में) (धनुष पक्ष में—गुणस्य=प्रत्यञ्चायाः ग्रहणकर्मणि अर्थात् प्रत्यञ्चा के ग्रहण करने में ।) योग्यम्=योग्य । मार्गणौघम्=(पुरुष पक्ष में । मार्गणानां याचकानाम् ओघः समूहः अर्थात् याचक-गण) (धनुष पक्ष में—मार्गणानां शराणाम् ओघः समूहः अर्थात् शरसमूह ।) पराङ्मुखम्=(पुरुषपक्ष में-प्रतिकूल) (धनुष पक्ष में-तिरछा) [कृत्वा=कर के] जहाति=छोड़ देता है । इति त्वम्=ऐसा मानकर तुम । माम्=मुझे । त्यजसि=छोड़ देते हो । चेत्=यदि । [तर्हि=तो] स्वामिन्=हे नाथ । ईदृग्=ऐसा । एव=ही । पिनाकः=पिनाक नामक धनुष । भवता=आप के द्वारा । करतले=करतल में । कथम्=क्यों । धृतः=धारण किया गया है ?

श्लोकार्थ :—'यह क्रूर, कुटिल पुरुष गुण ग्रहण करने योग्य मार्गणों (याचक गणों) को पराङ्मुख [प्रतिकूल] कर छोड़ देता है, ऐसा समझ कर यदि आप मेरा परित्याग करते हों, तो हे प्रभो ! फिर आपने ठीक वैसे ही—क्रूर (कठोर) कुटिल और गुण ग्रहण (प्रत्यञ्चा के ग्रहण) करने में योग्य मार्गणों (बाणों) को पराङ्मुख (तिरछा) कर छोड़ने वाले इस पिनाक नामक धनुष को अपने हाथ में क्यों धारण किया ?

विशेष:—यहाँ श्लेष अलङ्कार है ।

कोटिं परामुपगतेऽपि गुणे नितान्त-
नम्रं विमृश्य यदि नाजगवं जहासि ।
स्वल्पे गुणेऽपि नतिमानतिमात्रमेव
किं तच्च येन न भवामि तवानुकम्प्यः ।।५६।।

अन्वयः —पराम् कोटिम् उपगते गुणे अपि नितान्तम् नम्रम् विमृश्य यदि

अजगवम् न जहासि, [तदा] स्वल्पे गुणे अपि [अहम्] अतिमात्रम् एव नतिमान् । तत् च किम्, येन तव अनुकम्प्यः न भवामि ?

पदार्थः—परां कोटिम्=धनुष के अग्र भाग या करोड़ संख्या । उपगते=प्राप्त हुए । गुणे=प्रत्यञ्चा अथवा दया दाक्षिण्यादि गुणों के । अपि=भी । नितान्तम्=अत्यन्त । नम्रम्=विनत । विमृश्य=समझ कर यदि । अजगवम्=अजगं विष्णुं वातीति तत्–पिनाक धनुष को । न जहासि=नहीं त्यागते । (तदा=तो) स्वल्पे=अत्यल्प । गुणे=दया दाक्षिण्यादि गुण में । अपि=भी (अहम्=मैं) अतिमात्रम्=अत्यन्त । एव=ही । नतिमान् =नम्र [हूँ] । तत् च किम्=तब क्या (कारण है) । येन=जिससे । तव=तुम्हारा । अनुकम्प्यः=दयापात्र । न भवामि=नहीं होता हूँ ।

श्लोकार्थ;—हे नाथ ! यदि परा कोटि (धनुष के अग्रभाग अथवा करोड़ संख्या) तक गुण (प्रत्यञ्चा या दया-दाक्षिण्यादि) के पहुँचने पर भी अतीव नम्र समझकर आप पिनाक धनुष को नहीं त्यागते, तो मैं तो स्वल्प ही गुण (दया दाक्षिण्यादि) से अतिमात्र नम्र हूँ । तब फिर क्या कारण है कि मैं आपका अनुकम्पापात्र नहीं होता ?

विशेषः—यहाँ श्लेष तथा अनुप्रास अलङ्कार है ।

अत्यन्ततीक्ष्णमतिकर्कशमार्जवेन
कृत्वा प्रवेशमतिमात्रमरुन्तुदं माम् ।
मत्वा जहासि यदि नाथ किमर्थमेत-
देवंविधं वहसि हस्तगतं त्रिशूलम् । ५७॥

अन्वयः—नाथ ! अत्यन्ततीक्ष्णम् अतिकर्कशम् आर्जवेन प्रवेशम् कृत्वा (पश्चात्) अतिमात्रम् अरुन्तुदम् मत्वा यदि माम् जहासि, (तर्हि) एवंविधम् हस्तगतम् एतत् त्रिशूलम् किमर्थम् वहसि ?

पदार्थः—नाथ ! अत्यन्ततीक्ष्णम्=(मुझे) अत्यन्त तीक्ष्ण (रोषयुक्त) । अतिकर्कशम्=अति कठोर । आर्जवेन=(पहले बड़ी) सरलता, विनम्रता से । प्रवेशम् कृत्वा=प्रवेश करके (पश्चात्=पीछे) अतिमात्रम्=अत्यन्त । अरुन्तुदम्=

मर्म का भेदन करने वाला। मत्वा=मान कर (समझ कर) यदि। माम्=मुझे। जहासि=छोड़ देते हो। [तर्हि=तो] एवं विधम्=इस प्रकार के। हस्तगतम्=हाथ में स्थित ! एतत्=यह। त्रिशूलम्=त्रिशूल को। किमर्थम्=किस लिये। वहसि=ढो रहे हो ?

श्लोकार्थः—नाथ ! मुझे अत्यन्त तीक्ष्ण (रोषयुक्त) अति कठोर और पहले बड़ी विनम्रता से प्रवेश कर पीछे अत्यन्त ही मर्म भेदन करने वाला समझ कर यदि आप मेरी उपेक्षा करते हैं, तो फिर ठीक ऐसे ही (अत्यन्त तीक्ष्ण, अति कठोर और पहले बड़ी सरलता से प्रवेश कर फिर मर्म भेदन करने वाले) हाथ में स्थित इस त्रिशूल को क्यों ढो रहे हैं ?

विशेषः—यहाँ श्लेष तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

ज्ञात्वाथ चेत्समरसंहितकर्मयोग्यं
कोटित्रयोज्ज्वलमुखं त्रिशिखं बिभर्षि।
निः स्वं न किं समरसं हितकर्मयोग्यं
मां वेत्सि येन कुरुषे मयि न प्रसादम् ॥५८॥

अन्वयः— अथ समरसंहितकर्मयोग्यम् कोटित्रयोज्ज्वलमुखम् ज्ञात्वा चेत् त्रिशिखम् बिभर्षि, तर्हि माम् निःस्वं समरसम् हितकर्मयोग्यम् किम् न वेत्सि, येन मयि प्रसादम् न कुरुषे ?

पदार्थः— अथ=अब (यदि इस त्रिशूल को)। समरसंहितकर्मयोग्यम्=समर में युद्ध करने योग्य (पुरुष पक्ष में—समरसं तथा हितकर्मयोग्यं च=सर्वत्र समान तथा सभी का हितकर्म करने योग्य) कोटित्रयोज्ज्वलमुखम्=कोटीनामग्राणां शिखापर्यायाणां त्रयेणोज्ज्वलानि मुखान्यग्राणि यस्य तत्—तीन शिखाओं से उज्ज्वलित मुख वाला (पुरुष पक्ष में—कोटित्रय-विहीन)। ज्ञात्वा=जानकर। चेत्=यदि। त्रिशिखम्=त्रिशूल को। बिभर्षि=धारण करते हो। तर्हि=तो। माम्=मुझे। निःस्वम्=धनविहीन को। समरसम्=सर्वत्र समान या एक रस। सर्वहितयोग्यम्=सभी का हित करने योग्य। किम्=क्या। न वेत्सि=नहीं जानते हो ? येन=जिससे। मयि=मेरे ऊपर। प्रसादम्=प्रसन्नता को। न करोषि=नहीं करते हो ?

श्लोकार्थः—(भगवन् ! यदि आप इस) त्रिशूल को समर में युद्ध के योग्य और कोटित्रय (तीन शिखाओं) से उज्ज्वलित मुखवाला समझ धारण करते हों तो फिर क्या मुझ निर्धन (कोटित्रय-विहीन) समरस (समान या एक रस) और हित कर्म योग्य (सभी का हित कर्म करने योग्य) नहीं समझते हो, जिससे मुझ पर अनुग्रह नहीं करते ?

विशेषः—यहाँ श्लेष तथा अनुप्रास है।

न्यग्भावितद्विजमखर्वितपूर्वदेव—
गुर्वापदर्पणपरं कृतगोत्रभेदम्।
सम्भाव्य चेत्त्यजसि मां कथमीदृगेव
नेत्रोत्सवस्तव जगद्विजयी कुमारः ॥५६॥

अन्वयः—(हे स्वामिन् !) माम् न्यग्भावितद्विजम् अखर्वितपूर्व गुर्वापदर्पणपरम् कृतगोत्रभेदम् संभाव्य त्यजसि चेत्, (तर्हि) ईदृक् जगद्विजयी कुमारः कथम् तव नेत्रोत्सवः ?

पदार्थः—(हे स्वामिन् !) माम्=मुझे। न्यग्भावितद्विजम्=न्यग्भावि न्यक्कृता द्विजा येन स तादृशम्=ब्राह्मणों का तिरस्कार करने वाला (स्व कार्तिकेय के पक्ष में—न्यग्भावितोऽधः कृतो वाहनत्वात् द्विजो मयूरो स तादृशः—मयूर को अपना वाहन बनाने वाला। अखर्वितपूर्वदेवगुर्वापद परम्=पूर्वमखर्विता देवा आचार्याश्च तेषामापदर्पणे दौःस्थ्यदाने परं रतम् अपने इष्ट देवता तथा गुरुजनों को दुःख देने में तत्पर (कार्तिकेय के पक्ष अखर्विता महान्तो ये पूर्वदेवगुरवः सुरद्विषां गुरवस्तेषामापदर्पणे परस्तत्परः बड़े बड़े दैत्यों के गुरुजनों को दुःख देने में तत्पर)। कृतगोत्रभेदम्=कृतो शील्याद् गोत्रभेदो येन स तादृशम्—दुःशीलता के कारण अपने गोत्र का भेदन क वाला (कार्तिकेय के पक्ष में—कृतो गोत्रस्य क्रौञ्चाख्यस्य भेदो येन स गोत्रभेदः—क्रौञ्चपर्वत का विदारक)। संभाव्य=समझ कर। त्यजसि चे यदि छोड़ते हो। (तर्हि=तो) ईदृक्=इस प्रकार का एषः=यह। जगद्वि कुमारः=त्रैलोक्यजेता कार्तिकेय। कथम्=कैसे। तव=तुम्हारे। नेत्रोत्सवः=न का आनन्दित करने वाला है ?

श्लोकार्थः—हे नाथ ! मुझे द्विजों (ब्राह्मणों) का तिरस्कार करने वाला, अपने इष्ट देवता और गुरुजनों को दुःख देने में तत्पर और (दुःशीलता के कारण) अपने गोत्र (वंश) का भेदन करने वाला समझकर यदि मेरी उपेक्षा करते हों, तो फिर मेरे ही समान अर्थात् द्विज (मोर) को (अपना वाहन बना कर) नीचे करने वाला, बड़े बड़े पूर्वदेवों (दैत्यों) के गुरुजनों को दुःख देने में तत्पर और गोत्र (क्रौञ्चपर्वत) का विदारक यह जगद्विजयी कुमार (स्वामी कार्तिकेय) आपके अत्यन्त प्रिय कैसे हैं ?

विशेषः—यहाँ शब्दश्लेष है।

मत्वाथ नाथ शुचिजातिममुं विशाख-
मस्मिन् मनो यदि बिभर्षि दृढ प्रसादम्।
एवंविधोऽप्यहमनन्यपरायणस्ते
कस्माद्भवामि भगवन्नवहेलभूमिः ॥६०॥

अन्वयः—नाथ ! अथ अमुम् शुचिजातिम् विशाखम् मत्वा यदि अस्मिन् मनः दृढप्रसादम् बिभर्षि, तर्हि एवंविधः अपि अनन्यपरायणः अहम् ते अवहेलभूमिः कस्माद् भवामि ?

पदार्थः—नाथ ! अथ=अनन्तर (अब)। अमुम्=इसे (कार्तिकेय को)। शुचिजातिम्=शुचेरग्नेः सकाशाज्जातिर्जन्म यस्य स तादृशस्तम्-अग्नि से उत्पन्न (कवि के पक्ष में—शुचिः पवित्रा ब्राह्मणत्वाज्जातिर्यस्य सः - पवित्र जाति वाला ब्राह्मण)। विशाखम्=कुमार (कवि के पक्ष में-शाखाहीन)। मत्वा=मान (समझ) कर। यदि। अस्मिन्=इस (कार्तिकेय) पर। मनः=मन को। दृढ-प्रसादम्=दृढ प्रसन्नता वाला। बिभर्षि=धारण करते हो। तर्हि=तो। एवंविधः अपि=इसी प्रकार का ही। अनन्यपरायणः=अनन्यशरणक। अहम्=मैं। ते= तुम्हारी। अवहेलभूमिः=अवहेलना (अवज्ञा) का पात्र। कस्माद् भवामि= क्यों होता हूँ ?

श्लोकार्थः—हे नाथ ! स्वामी कार्तिकेय को शुचिजाति (अग्नि से उत्पन्न) और विशाख (कुमार) समझ कर यदि उस पर अत्यन्त प्रेम करते हो, तो मैं ठीक ऐसा हो-शुचि जाति (पवित्र जाति वाला ब्राह्मण) और

विशाख (शाखाहीन -और अनन्यशरण हूँ [भगवन् !] फिर मैं आप अवज्ञा का पात्र क्यों हूँ ?

विशेष:—यहाँ अनुप्रास और श्लेष अलङ्कार है।

सर्वापहाररतिरुन्मदवक्रवक्त्र--
स्त्याज्योऽस्मि कर्णचपलो यदि तुन्दिलस्ते।
एवंविधोऽपि भगवन् गणनायकत्वे
कस्मादयं गजमुखो भवता नियुक्तः ॥६१॥

अन्वयः—भगवन् ! सर्वापहाररतिः उन्मदवक्रवक्त्रः कर्णचपलः तुन्दि [अहम्] यदि ते त्याज्यः अस्मि [तर्हि] एवंविधः अपि अयम् गजमु गणनायकत्वे कस्माद् नियुक्तः ?

पदार्थः—भगवन् ! सर्वापहाररतिः=सर्वस्य वस्तुनो यत्र कुत्रापि ल स्यापहारस्तत्र रतिः यस्य सः-जहाँ कहीं भी मिलने वाली प्रत्येक वस्तु का हरण करने में तत्पर। उन्मदवक्रवक्त्रः=उन्मदं सहर्षं वक्रं कुटिलं वक्त्रं यस्य सः–मदोन्मत्त होने से कुटिलमुख। कर्णचपलः=चञ्चल कर्णों वाले (गणेश पक्ष में-बार-बार कान हिलाने वाला)। तुन्दिलः=बड़ी तोंद वाला अथवा पे [अहम्=मैं] यदि। ते=तुम्हारा। त्याज्यः अस्मि=त्याज्य हूँ। [तर्हि=तो] ए विधः अपि=इसी प्रकार का ही। अयम्=यह। गजमुखः=गजानन (श्री गणेश) भवता=आपके द्वारा। गणनायकत्वे=गणों का नेता। कस्माद्=क्यों। नियुक्त बनाया गया ?

श्लोकार्थः—हे भगवन् ! मुझे सर्वापहार (जहाँ कहीं भी मिलने वा प्रत्येक) वस्तु का अपहरण करने में तत्पर, मदोन्मत्त होने से कुटिलमुख, च कर्णों वाला और तुन्दिल (बड़ी तोंद वाला, पेटू) जान कर यदि मेरा परित्य करते हों, तो फिर आपने मेरे ही समान—सभी वस्तुओं का अपहरण करने तत्पर, मदजल भरे टेढ़े मुख वाले, बार-बार कान हिलाने वाले और लम्बोद गजानन (गणेश जी को अपना गणनायक (नन्दी भृङ्गी महाकाल आदि ग का नेता) क्यों बनाया ?

विशेषः—यहाँ शब्द श्लेष तथा छेकानुप्रास है।

हस्तं सदा वहति दानजलावसिक्तं
तेनैष चेदलभत प्रमथाधिपत्यम्।
दानं प्रदातुमधनो यदि न क्षमोऽहं
दासत्वमस्तु मम देव भवद्गणानाम् ॥६२॥

अन्वयः—देव ! एषः दानजलावसिक्तम् हस्तम् सदा वहति, तेन प्रमथाधिपत्यम् अलभत चेत् तर्हि अधनः अहम् दानम् प्रदातुम् न क्षमः तदा भवद्गणानाम् दासत्वम् [एव] मम अस्तु।

पदार्थः—देव !=हे ईश्वर ! एषः=यह (श्री गणेश जी) दानजलावसिक्तम्=दानजलेन मदाम्भसावसिक्तम्=मदजल से सिञ्चित (कवि के पक्ष में—दानार्थं जलेन वारिणावसिक्तम्—दान देने के लिये जल से सिञ्चित)। हस्तम्=सूँड, हाथ। सदा वहति=धारण करते हैं। तेन उस कारण से। प्रमथाधिपत्यम्=गणाधिपत्य। अलभत चेत्, तर्हि=यदि प्राप्त किया है, तो। अधनः=निर्धन। अहम्=मैं। दानं प्रदातुम्=दान देने के लिये। यदि। न क्षमः=नहीं समर्थ हूँ। तदा=तो। भवद्गणानाम्=आपके गणों की। दासत्वम् [एव]=दासता ही। मम अस्तु=मेरे लिये हो।

श्लोकार्थः—हे स्वयं प्रकाश परमेश्वर ! यह गणेश जी सदा दान जल (मदजल) से सिञ्चित हस्त (सूँड़) को धारण किये रहते हैं, इस कारण यदि इन्हें आपने अपने गणों का अधिपति बना लिया, तो मैं निर्धन होने से दान देने में असमर्थ हूँ, अर्थात् अत एव सदा दानजल से (दान देने के लिए जल से) सिञ्चित हस्त को धारण नहीं कर सकता [इस कारण यदि मुझे आप गणेश के समान सेनानायक बनाने योग्य न समझते हों] तो मुझे अपने गणों का दास ही बना दीजिये।

श्लोकः—यहाँ श्लेष अलङ्कार तथा व्यतिरेक ध्वनि है।

हेयोऽस्म्यसेवकतया तव चेद् ग्रहेषु
कुर्वंत्सु तुल्यमखिलेष्वपि राशिभोगम्।

द्वावुज्झतस्तव न दृक्पथमर्कचन्द्रा-
वेतावता परिहृता भवता किमन्ये ॥६३॥

अन्वयः—[हे प्रभो !] तव असेवकतया [अहम्] हेयोऽस्मि चेत्, [तर्हि] अखिलेषु अपि ग्रहेषु तुल्यम् [एव] राशिभोगम् कुर्वत्सु [सत्सु] अर्कचन्द्रौ द्वौ एव दृक्पथम् न उज्झतः। एतावता एव भवता अन्ये परिहृता किम् ?

पदार्थः—[हे प्रभो !] तव=तुम्हारा। असेवकतया=सेवक न होने से। [अहम्=मैं] हेयः=उपेक्षणीय। अस्मि चेत् [तर्हि]=यदि हूँ, तो। अखिलेषु=सभी। ग्रहेषु=नवग्रहों के। तुल्यम् [एव]=समान ही। राशिभोगम्=[मेषादि बारह] राशियों का भोग। कुर्वत्सु=करते रहने पर भी। अर्कचन्द्रौ=सूर्य और चन्द्रमा। द्वौ=दो। एव=ही। दृक्पथम्=दृष्टि पथ को। न उज्झतः=नहीं छोड़ते हैं। एतावता=इतने मात्र से। एव=ही। भवता=आपके द्वारा। अन्ये=अन्य (ग्रह)। परिहृता:=छोड़ दिये गये। किम्=क्या ?

श्लोकार्थः—हे नाथ ! मैं तुम्हारा सेवक नहीं हूँ, अतः हेय हूँ [यदि ऐसा मानते हो] तो मेषादि बारह राशियों का भोग तो नवों ग्रह समान ही करते हैं। किन्तु उनमें से केवल सूर्य और चन्द्रमा ही आपके दृष्टिपथ से ओझल नहीं होते (सदा आपका दरबार करते हैं।) [इस लिये आपने उन्हें अपनी आँखों पर बैठा रखा है] तो क्या इतने मात्र से अपना असेवक मान कर अन्य ग्रहों को अपनाना आपने त्याग दिया ? [फिर मैं तो आपका अहर्निश चिन्तन करने वाला भक्त हूँ।] तब मैं आपका हेय कैसे ?

विशेषः—यहाँ श्लेषालङ्कार है।

बालावुभौ द्विजपती तव नाथ भक्ता-
वेकस्तयोर्हरति सन्तमसं प्रजानाम्।
तेनावृतं यदि परं सहसे महेश
द्रष्टुं ततो विषमदृष्टिरिति श्रुतोऽसि ॥६४॥

अन्वयः—नाथ ! बालौ उभौ द्विजपती तव भक्तौ [स्तः]। तयोः एकः प्रजानाम् सन्तमसं हरति, परम तेन आवृतम् द्रष्टुं न सहसे, महेश ! ततः [एव [त्वम्] विषमदृष्टिः इति श्रुतः असि।

पदार्थः—नाथ ! बालौ=दोनों कुमार (चन्द्रमा और मैं) उभौ=दोनों द्विजपती=द्विजपति (चन्द्रमा के पक्ष में—तारकाओं के राजा) (कवि के पक्ष में—ब्राह्मणेन्द्र) तव=तुम्हारे। भक्तौ [स्तः]=भक्त [हैं]। तयोः=उन दोनों में से। एकः=एक। प्रजानाम्=प्रजाओं का। सन्तमसम्=सघन अन्धकार को। हरति=हरता है। परम्=दूसरे को। तेन=उससे (अन्धकार से) आवृतम्=आवृत। द्रष्टुम्=देखने के लिए। यदि सहसे=समर्थ हो। ततः [एव] उसी से [त्वम्= विषम दृष्टिः=पक्षपाती या त्रिनेत्रधारी। इति श्रुतः असि=ऐसा प्रसिद्ध हो।

श्लोकार्थः—हे नाथ ! दोनों कुमार (चन्द्रमा और मैं) द्विजपति (तारकाओं के राजा और ब्राह्मणेन्द्र) हैं। उनमें से एक द्विजपति (आपका मौलिस्थ तारकेश बालचन्द्र) तो समस्त प्रजाओं के अन्धकार को दूर करता है। दूसरे द्विजपति [ब्राह्मणेन्द्र कवि] को अज्ञान रूप अन्धकार ने घेर रखा है। ऐसी दशा में यदि आप इसे इस अन्धकार से घिरा ही रहने दें, तब तो आप सचमुच विषमदृष्टि (पक्षपाती या त्रिनेत्रधारी) हैं।

विशेषः—यहाँ श्लेष तथा छेकानुप्रास है।

युक्तं रिपौ सुहृदि वा समदर्शनस्य
दोषोद्धतेऽपि यदि ते हृदयं दयार्द्रम्।
तत्साम्प्रतं गतिविहीनमनात्मनीनं
दीनं जनं प्रति कुतः करुणावलेपः ॥६५॥

अन्वयः—[भगवन् !] दोषोद्धतेऽपि रिपौ सुहृदि वा समदर्शनस्य ते हृदयम् यदि दयार्द्रम् [अस्ति, तद्] युक्तम्। तत् साम्प्रतम् गतिविहीनम् अनात्मनीनम् दीनम् प्रति कुतः तव करुणावलेपः ?

पदार्थः—[भगवन् !] दोषोद्धते अपि=[मद मात्सर्य आदि] दोषों से उद्धत भी। रिपौ=शत्रु पर। सुहृदि=मित्र पर। वा=अथवा। समदर्शनस्य= समान दृष्टि वाले। ते=आपका। हृदयम्=हृदय। यदि। दयार्द्रम्=दयार्द्र। अस्ति, तद्=है, वह]। युक्तम्=उचित है। तत्=तो। साम्प्रतम्=इस समय। गतिविहीनम्=दिशाहीन। अनात्मनीनम्=आत्मने हितम् आत्मनीनम्, पुण्य-

कृतत्वात् नात्मने हितोऽनात्मनीनः—आत्मविरोधी । दीनम्=दीन के प्रति। कुतः=क्यों । तव=तुम्हारी । करुणावलेपः=करुणा का अपमान (है ?) ।

श्लोकार्थः—हे नाथ ! यदि आपका हृदय मद, मात्सर्य दोषों से उद्धत शत्रु और अभिन्न मित्र, दोनों के प्रति समान रूप से दयार्द्र रहता है, तो आप जैसे समदर्शी के लिए यह उचित है। तो फिर मुझ आत्मविरोधी अगतिक दीनजन के प्रति अब आपकी वह करुणा कहाँ चली गयी ?

विशेषः—यहाँ वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है ।

अभ्युद्गमोऽयमशनेरमृतांशुबिम्बा—
त्स्वामिन्नसौ दिनमणेस्तिमिरप्ररोहः ।
युष्मादृशस्य करुणाम्बुनिधेरकस्मा—
दस्मादृशेष्वशरणेष्ववधीरणं यत् ॥६६॥

अन्वयः—स्वामिन् ! युष्मादृशस्य करुणाम्बुनिधेः अकस्मात् अस्मादृशेषु अशरणेषु यत् अवधीरणम् [अस्ति], अयम् अमृतांशुबिम्बात् अशनेः अभ्युद्गमः [अस्ति] तथा असौ दिनमणेः तिमिरप्ररोहः [अस्ति] ।

पदार्थः—स्वामिन् ! युष्मादृशस्य=आप जैसे । करुणाम्बुनिधेः=करुणा-सागर का । अकस्मात्=अकारण । अस्मादृशेषु=मुझ जैसे । अशरणेषु=शरणहीनों पर । यत्=जो । अवधीरणम्=अपमान । [अस्ति=है ।] अयम्=यह । अमृतांशुबिम्बात्=अमृतमय चन्द्रमण्डल से । अशनेः=वज्र का । अभ्युद्गमः=निकलना । [अस्ति=है] । तथा । असौ=यह । दिनमणेः=सूर्य का) तिमिरप्ररोहः=अन्धकार का प्रादुर्भाव [अस्ति=है]

श्लोकार्थः—हे स्वामिन् ! निमेषमात्र में तीनों लोकों का उद्धार कर सकने वाले आप जैसे करुणा सागर द्वारा अकारण ही जो हम जैसे शरणहीनों की उपेक्षा है, यह अमृत मय चन्द्रमण्डल से वज्र का निकलना और भगवान दिनमणि (सूर्य) के मण्डल से अन्धकार का प्रादुर्भाव ही है । अर्थात् ऐसा होना चन्द्रमण्डल से वज्रपात और सूर्य मण्डल से अन्धकार के आविर्भाव के तुल्य असम्भव है, यह भाव है ।

विशेषः—यहाँ निदर्शना तथा वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है ।

स्वामिन् मृडस्त्वमुरुदुःखभरार्दितोऽहं
मृत्युञ्जयस्त्वमथ मृत्युभयाकुलोऽहम् ।
गङ्गाधरस्त्वमहमुग्रभवोपताप---
तप्तः कथं कथमहं न तवानुकम्प्यः ॥६७॥

अन्वयः—स्वामिन् ! त्वम् मृडः [असि] अहम् उरुदुःखभरार्दितः [अस्मि] । त्वम् मृत्युञ्जयः [असि] अहम् मृत्युभयाकुलः (अस्मि) अथ त्वम् गङ्गाधरः (असि) अहम् उग्रभवोपतापतप्तः (अस्मि, अतः) अहम् तव कथं कथम् न अनुकम्प्यः ?

पदार्थः—स्वामिन् !=नाथ ! त्वम्=आप । मृडः=सबको सुखी करने वाले । (असि=हैं) : अहम्=मैं । अरुदुःखभरार्दितः=उरुणा महता दुःखभरेण जन्म-जरामरणजदुःखभरेणार्दितः पीडितः—जरा जन्म मरण रूपी भारी दुःखों के भार से पीडित । (अस्मि=हूँ) त्वम्=आप । मृत्युञ्जयः=मृत्युं यमं जयति दाहकत्वात्-यमराजपुर पर शासन करने वाले हैं । अहम्=मैं । मृत्युभयाकुलः=मृत्यु के भय से आकुल । (अस्मि=हूँ) । अथ=और । त्वम्=आप । गङ्गाधरः =मस्तक पर गङ्गा को धारण करने वाले । (असि=हो) अहम्=मैं । उग्रभवोपतापतप्तः=सांसारिक उग्र ताप से सन्तप्त । (हूँ, अतः) । अहम्=मैं । तव= तुम्हारा । कथम्=क्यों । न अनुकम्प्यः=अनुकम्पनीय नहीं हूँ ।

श्लोकार्थः—हे नाथ ! आप मृड (सबको सुखी करने वाले) हो, मैं जरा जन्म और मरण रूपी भारी दुःखों के भार से पीड़ित हूँ, आप मृत्युञ्जय अर्थात् यमराजपुर पर शासन करने वाले हैं, मैं मृत्यु के भय से व्याकुल हूँ और आप गङ्गाधर अर्थात् मस्तक में गङ्गा को धारण करते हैं, मैं सांसारिक उग्र ताप से सन्तप्त हूँ । इस लिये बतलाइये कि मैं किस किस प्रकार से आपका अनुकम्पनीय नहीं हूँ अर्थात् सब प्रकार आपका अनुकम्पा-पात्र (चिकित्सनीय) हूँ ।

विशेषः—यहाँ व्यतिरेक तथा छेकानुप्रास है ।

भक्तप्रियः स्वयमपि क्षुधयान्वितस्य
पानोत्सवंकरसिकोऽपि पिपासितस्य ।

तापातुरस्य घनसेवनसादरोऽपि
जानासि नाथ न कथं सहसा ममार्तिम् ॥६८॥

अन्वयः—नाथ ! (त्वम्) स्वयमपि भक्तप्रियः (सन्) क्षुधया अन्वितस्य मम आर्तिम् सहसा कथम् न जानासि ? पानोत्सवैकरसिकः (सन्) अपि पिपासितस्य मम आर्तिम् (सहसा) कथं न जानासि ? तथा घनसेवनसादरः सन् अपि तापातुरस्य (मम आर्तिम् सहसा कथम् न जानासि ?)

पदार्थः—नाथ ! (त्वम्) स्वयमपि=स्वयं भी। भक्तप्रियः=भक्ता वाङ्मनः कर्मभिस्त्वद्ध्यानासक्तास्ते प्रिया यस्य स तादृशः—भक्तों का प्रिय करने वाले अथवा भक्तमन्नं प्रियं यस्य सः 'भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः—अन्न को चाहने वाला। (सन्=होकर) क्षुधया=(आपके दर्शन रूपी) क्षुधा से। अन्वितस्य=युक्त की। मम=मेरी। आर्तिम्=पीड़ा को। सहसा=तत्काल। कथम् न जानासि=क्यों नहीं समझते हैं ? पानोत्सवैकरसिकः=पानं रसायनपानं स एवोत्सवस्तत्रैकरसिकोऽपि—रसायन पान के उत्सव में रस लेने वाले, अथवा पानं रक्षणं त्रिजगतः "पा पाने रक्षणे च" तत्रैकरसिकः—त्रैलोक्य संरक्षण के एक मात्र रसिक। (सन् अपि=होकर भी) पिपासितस्य=(आपके दर्शन के) प्यासे के। मम=मेरी। आर्तिम्=पीड़ा को। कथम् न जानासि=क्यों नहीं समझते हो। तथा। घनसेवनसादरः=(भक्त जनों की) गाढ सेवा के प्रेमी, अथवा मेघों के सेवन के प्रेमी। सन् अपि=होते हुये भी। तापातुरस्य=(आध्यात्मिक आधिदैविक) और आधिभौतिक) तापों से विह्वल। (मम आर्तिम् सहसा कथम् न जानासि=मेरी पीड़ा को तत्काल क्यों नहीं समझते) ?।

श्लोकार्थः—नाथ ! (तुच्छ पुरुष भी क्षुधा-पिपासा-पीड़ित प्राणी के दुःखों पर विचार करता है। फिर) आप तो स्वयं भक्तप्रिय (भक्तों का प्रिय करने वाले) होकर भी मुझ क्षुधा पीड़ित (आपके दर्शनरूपी भूख से व्याकुल) की पीड़ा को तत्काल क्यों नहीं जान लेते ? पानोत्सव (त्रैलोक्य संरक्षण) के एकमात्र रसिक होकर भी मुझ पिपासाकुल (आपके दर्शन के प्यासे) के दुःख पर शीघ्र क्यों नहीं पिघलते और घनसेवन (भक्तजनों की गाढ सेवा) के प्रेमी होकर भी मुझ तापत्रय विह्वलित की व्यथा को शीघ्र क्यों नहीं समझते ?

विशेष :—यहाँ श्लेष तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

सर्वज्ञ सर्वमवगच्छसि भूतभावि
भाग्यक्षयः पुनरसौ भगवन् ममैव।
जानासि यस्य हृदयस्थित एव नार्तिं
ज्ञात्वापि वा गजनिमीलितमातनोषि ॥६९॥

अन्वयः—सर्वज्ञ ! (त्वम्) सर्वम् भूतभावि अवगच्छसि। भगवन् ! पुनः मम एव असौ भाग्यक्षयः (यत्) यस्य हृदयस्थित एव आर्तिम् न जानासि, ज्ञात्वा अपि वा गजनिमीलितम् आतनोषि।

पदार्थः—सर्वज्ञ !=हे सब कुछ जानने वाले परमेश्वर ! (त्वम्=आप) सर्वम्=सब। भूतभावि=भूत और भविष्य को। अवगच्छसि=जानते हो। भगवन् ! पुनः। मम एव=मेरा ही। असौ=यह। भाग्यक्षयः=दुर्भाग्य है। (यत्=जो) यस्य=जिसके। हृदयस्थितः=हृदय में स्थित होकर। एव=ही। आर्तिम्=पीड़ा को। न जानासि=नहीं जानते हो। ज्ञात्वा अपि=(सब कुछ) जानकर भी ! वा=अथवा। गजनिमीलितम्=हाथी के जैसा नेत्र निमीलन (देख कर भी अन देखा सा) आतनोषि=करते हो।

श्लोकार्थः—हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! आप भूत भविष्य और वर्तमान सब कुछ जानते हो। किन्तु भगवन् ! यह मेरा दुर्भाग्य है कि आप अहर्निश मेरे हृदय में ही रहकर मेरी व्यथा को नहीं जानते, अथवा जानकर भी हाथी के जैसा नेत्रनिमीलन (देख कर भी अनदेखा सा) कर लेते हो।

विशेषः—विशेषोक्ति और अनुप्रास है।

भालेऽनलं तव गले गरलं करे च
शूलं प्रकाशमखिलोऽयमवैति लोकः।
अन्तर्गतं त्रयमिदं तु मम त्वमेव
जानासि नासि च दयालुरतो हतोऽहम् ॥७०॥

अन्वयः—नाथ ! तव भाले अनलम्, गले गरलम् करे च शूलम् प्रकाशम् अयम् अखिलः अवैति। मम तु अन्तर्गतम् इदम् त्रयम् त्वम् एव जानासि, दयालुः च न असि, अतः [एव] अहम् हतः।

पदार्थः—नाथ ! तव=तुम्हारे। भाले=ललाट में। अनलम्=अग्नि। गले=कण्ठ (गले) में। गरलम्=(कालकूट) विष। करे=हाथ में। च=और। शूलम्=त्रिशूल। प्रकाशम्=स्फुट रूप में। अयम्=यह। अखिलः लोकः=सम्पूर्ण संसार। अवैति=जानता है। मम तु=मेरे तो। अन्तर्गतम्=हृदय में स्थित। इदम् त्रयम्=यह तीनों (१) अनल=अज्ञान से होने वाली शोकाग्नि (२) गरल=आरम्भ में मधुर और परिणाम में दुःखद विष (३) त्रिशूल=जन्मजरामरण रूपी त्रिविध शूल रोग। त्वम् एव=तुम्हीं [अन्तर्यामी होने के कारण]। जानासि=जानते हो। दयालुः च=और दयालु। न असि=नहीं हो। अतः [एव]=इसीलिये। अहम् हतः=मैं मारा गया हूँ।

श्लोकार्थः—नाथ आपके ललाट में अनल (अग्नि) कण्ठ में गरल (कालकूट विष) और हाथ में शूल (त्रिशूल) है, यह बात सारा संसार जानता है। किन्तु मेरे तो अनल (अज्ञान से होने वाला शोक) गरल (आरम्भ में मधुर और परिणाम में दुःख देने वाला पाप रूप विष) और जरामरण रूपी शूल रोग—ये तीनों अन्दर हैं। सो इन्हें (मेरी आन्तरिक व्यथा को) केवल आप अन्तर्यामी ही जानते हो। फिर भी आपको दया नहीं आती, इस कारण मैं इस घोर संसार में बुरी तरह मारा गया हूँ।

विशेषः—यहां श्लेष यमक तथा वृत्त्यनुप्रास है।

एकस्त्वमेव भविनामनिमित्तबन्धु-
नैंसर्गिकी तव कृपा सवितुः प्रभेव
वामः पुनर्मम विधिः परिदेवितानि
जातान्यरण्यरुदितेन समानि यस्य ॥७१॥

अन्वयः—[हे ईश !] एकः त्वम् एव भविनाम् अनिमित्तबन्धुः [असि] सवितुः प्रभा इव तव [एव] नैसर्गिकी कृपा [अस्ति]। पुनः मम विधिः वामः [अस्ति]। यस्य परिदेवितानि अरण्यरुदितेन समानि जातानि।

पदार्थः—[हे ईश !] एकः त्वम् एव=एक तुम ही। भविनाम्=संसारी (जीवों के)। अनिमित्तबन्धुः=अकारणबन्धु [असि=हो]। सवितुः=सूर्य की। प्रभा इव=प्रभा के समान। तव (एव)=तुम्हारी ही। नैसर्गिकी=स्वाभाविक।

कृपा (अस्ति)=कृपा है । पुनः । मम=मेरा । विधिः=भाग्य । वामः=विपरीत । (अस्ति=है) यस्य=जिसके । परिदेवितानि=क्रन्दन । अरण्यरुदितेन=अरण्य रोदन के । समानि=समान । जातानि=हो गये हैं ।

श्लोकार्थः—प्रभो ! संसारी जीवों के अकारण-बन्धु एकमात्र आप ही हैं । सूर्य की प्रभा के समान स्वाभाविकी करुणा केवल आपकी ही है । परन्तु मेरा भाग्य विपरीत (खोटा) है, जो मेरे करुणालाप अरण्यरोदन से हो गये हैं । अर्थात् जिस प्रकार सूनसान जंगल में विलाप करने से कोई लाभ नहीं होता क्योंकि वहां उसे सुनने वाला कोई नहीं होता, उसी प्रकार मेरा यह विलाप व्यर्थ सा है ।

विशेषः—यहां उपमालङ्कार हैं ।

अत्यन्तदुर्भगमयोग्यमभाग्यभाज—
माजन्मनर्मविमुखं मुखरोग्रवाचम् ।
दैवादवाप्य सकलापसदं महेश
नैवात्यजत्कुलवधूरिव दुर्गतिर्माम् ॥७२॥

अन्वयः—महेश ! अत्यन्तदुर्भगम् अयोग्यम् अभाग्यभाजम् आजन्मनर्म-विमुखम् मुखरोग्रवाचम् सकलापसदम् माम् दैवात् अवाप्य इयम् दुर्गतिः कुलवधूः इव (माम्) नैव अत्यजत् ।

पदार्थः—हे महेश । अत्यन्तदुर्भगम्=अत्यन्त दुर्भाग्यशाली । अयोग्यम्= अयोग्य । अभाग्यभाजम्=अभागे । आजन्मनर्मविमुखम् = आजन्मनः = जन्म आरभ्य नर्मणि क्रीडायां सुखे विमुखम्—जन्म से ही क्रीडा सुख से हीन । मुख-रोग्रवाचम्=मुखरा असम्बद्धा उग्रा कठिना वाग्यस्य स तादृक् तम् अत्यन्त असम्बद्ध और कठोर भाषण करते वाले । सकलापसदम्=सकलेभ्योऽपसदम् अवरम्—सबसे तुच्छ । माम=मुझे । दैवात्=दुर्भाग्य से । अवाप्य=प्राप्त कर । इयम=यह । दुर्गतिः=(जन्म जरामरण से उत्पन्न भयरूपिणी) विपत्ति ने । कुल-वधः इव=(लज्जा आदि सद्गुणों से युक्त) कुलस्त्री की तरह । माम्=मुझे । नैव अत्यजत्=नहीं छोड़ा ।

श्लोकार्थः—हे महेश । दैववश मुझ अत्यन्त अभागे, अयोग्य, जन्म से

लेकर क्रीड़ा सुख से हीन, अत्यन्त असम्बद्ध और कठोर भाषण करने वाले, तुच्छातितुच्छ पुरुषापसद को पाकर यह दुर्गति कुलवधू (पतिव्रता स्त्री) की तरह मुझे छोड़ती ही नहीं। अर्थात् मैं निरन्तर दुर्दशा (विपत्ति) से पीड़ित हूँ।

विशेष:—यहाँ अनुप्रास तथा उपमालङ्कार है।

मुक्त्वा समाधिमसमाधिहरं परं च
प्रोद्दामधाम शिवधाम सुधामयं ते।
भ्रान्तोऽस्मि तेन मलयानिलवेल्यमान—
कल्लोललोलनिधनानि धनानि लब्धुम् ॥७३॥

अन्वय:—शिव ! तेन असमाधिहरं समाधिम् प्रोद्दामधाम ते सुधामयम् परम् धाम च मुक्त्वा (अहम्) मलयानिलवेल्ल्यमानकल्लोललोलनिधनानि लब्धुम् (दशदिक्षु) भ्रान्तः अस्मि।

पदार्थ:—हे शिव ! तेन=(यतः दुर्गति ने मेरा साथ नहीं छोड़ा) उसी कारण। असमाधिहरम्=असमाश्च ते आधयश्च ताः हरतीति तादृशम्—विषम आधियों (मानसिक पीड़ाओं) को हरने वाली। समाधिम्=समाधि। प्रोद्दामधाम=प्रोद्दाममुद्भटं धाम तेजो यत्र तत्तादृशम्—अत्यन्त उत्कट तेज से देदीप्यमान। ते=तुम्हारे। सुधामयम्=अमृतमय। परम् धाम=परमज्ञान रूप स्थान को। मुक्त्वा-छोड़ कर। (अहम=मैं)। मलयानिलवेल्ल्यमानकल्लोललोलनिधनानि=मलयानिलेन वेल्ल्यमानाः कम्प्यमाना ये कल्लोला महातरङ्गास्तद्वल्लोलं निधनं विनाशो येषां तानि—मलयानिल से कम्पित हो रही तरङ्गों के समान अति चञ्चल परिणाम वाली। धनानि=सम्पदाओं को। लब्धुम्=पाने के लिये। भ्रान्तः अस्मि=भ्रमण कर चुका हूँ।

श्लोकार्थ:—हे शिव ! इसी (पूर्वोक्त दुर्गति) के कारण ही मैं महाविषम आधियों (मानसिक पीड़ाओं) को हरने वाली 'समाधि' और अत्यन्त उत्कट तेज से देदीप्यमान अपने सुधामय धाम (परम ज्ञान रूप स्थान) को छोड़कर, मलयानिल से कम्पित हो रही तरङ्गों के समान अति चञ्चल परिणाम

वाली (अत्यन्त क्षणभङ्गुर) सम्पदाओं को पाने के लिये (सभी दिशाओं में व्यर्थ ही) भटक चुका हूँ।

विशेष:—यहाँ रूपक वृत्त्यनुप्रास, यमक तथा छेकानुप्रास है।

आराधिताः प्रचपलाश्चपलावदेव
दुष्टेश्वरा न गुरवो गुरवो गुणौघैः।
यातानि तानि मम हानिमहानि मिथ्या
श्रान्तोऽस्मि हा विततमोहतमोहतोऽहम् ॥७४॥

अन्वयः –[हे विभो ! मया मूढेन] चपलावद् प्रचपला। दुष्टेश्वराः एव आराधिताः। गुणौघैः गुरवः गुरवः न आराधिताः। [अतः] मम तानि अहानि मिथ्या हानिम् यातानि। हा विततमोहतमोहतः अहम् श्रान्तः अस्मि।

पदार्थ —[हे विभो ! मुझ मूढ के द्वारा] चपलावद्=विद्युत् की तरह। प्रचपलाः=चञ्चल चित्त। दुष्टेश्वराः=क्षुद्र राजा लोग। एव=ही। आराधिताः=आराधित हुये। गुणौघैः=(विद्वत्ता दया आदि) गुणों से। गुरवः=गम्भीर। गुरवः=सद्गुरु लोग। न आराधिताः-नहीं आराधित हुये। (अतः) मम=मेरे। तानि=वे। अहानि=दिन। मिथ्या=झूठे। हानिम् यातानि=हानि को प्राप्त हुये)। हा ! हाय। विततमोहतमोहतः=विततं विस्तीर्णं यन्मोहतमोऽज्ञानरूपं तमस्तेन हतः—विस्तीर्ण अज्ञान रूपी गाढ अन्धकार का मारा। अहम्=मैं। श्रान्तः अस्मि=थक गया हूँ।

श्लोकार्थः—प्रभो ! मुझ मूढ ने (अब तक) विद्युत् की तरह चञ्चलचित्त क्षुद्र राजाओं की ही आराधना की थी। विद्वत्ता, दया अदि गुणों से गम्भीर सद्गुरुओं की आराधना नहीं की। इस कारण मेरे वे दिन व्यर्थ ही नष्ट हो गये। हाय ! अज्ञान रूपी गाढ अन्धकार का मारा मैं अब अत्यन्त श्रान्त (खिन्न) हो गया हूँ।

विशेषः—इस पद्य मे चारों चरणों में पश्चावृत यमकालङ्कार है।

तृष्णा दिनाद्दिनमबृंहत बर्हिमान—
मायामिनी मनसि हैमनयामिनीव।
नाथ त्रिधामनयनार्पय दृक्प्रसादं
सादं नयान्धतमसं भ्रमसंभृतं मे ॥७५॥

अन्वयः—हे नाथ ! (मम) मनसि तृष्णा आयामिनी हैमनयामिनी इव दिनाद् दिनम् बंहिमानम् अबृंहत । त्रिधामनयन ! (त्वं मयि) दृक्प्रसादम् अर्पय, भ्रमसंभृतम् मे अन्धतमसम् सादम् नय ।

पदार्थः—(हे नाथ !) (मम=मेरे) मनसि=मन में । तृष्णा । आयामिनी=विस्तारवती । हैमनयामिनी=हेमन्त ऋतु की रात । इव=की तरह । दिनाद् दिनम्=दिन पर दिन (उत्तरोत्तर) बंहिमानम्=(बहलस्य भावो बंहिमा तम् बहलीभावम्–अत्यधिक । अबृंहत=बढ़ गयी हैं । त्रिधामनयन=त्रीणि धामानि सूर्यचन्द्राग्निरूपाणि नयनेषु यस्य सः तत्सम्बोधनम् सूर्य चन्द्र और अग्नि रूप तीन तेजोमय पिण्डों का तीनों नेत्रों में धारण करने वाले । (त्वं मयि=तुम मेरे ऊपर) दृक्प्रसादम्=प्रसन्न दृष्टि को । अर्पय=अर्पित करो । भ्रमसंभृतम्=भ्रम (असत्य में सत्य भ्रम) से संचित ! मे=मेरे । अन्धतमसम्=अज्ञान रूप अन्धकार को ! सादम् नय=विनाश को प्राप्त कराओ ।

श्लोकार्थः—हे नाथ ! मेरे मन में तृष्णा हेमन्त ऋतु की दीर्घ रात्रियों के समान दिन पर दिन बढ़ रही है । हे त्रिधामनयन ! (सूर्य चन्द्र और अग्नि रूप तीन तेजोमय पिण्डों को तीनों नेत्रों में धारण करने वाले स्वयं प्रकाश परमेश्वर !) अब आप मुझ पर अपनी प्रसाद-दृष्टि डालिये और भ्रम से (असत्य में सत्य की प्रतीति से) सञ्चित मेरे अज्ञानरूपी गाढ अन्धकार को नष्ट कर दीजिये ।

विशेषः–यहाँ वृत्त्यनुप्रास उपमा तथा यमक है ।

स्तम्भं विजृम्भयति दम्भमयं भ्रमं च
कंचित्प्रपञ्चयति यच्छति वाचि मुद्राम् ।
कं नाम नामयमयं प्रथयत्यखर्व-
गर्वज्वरज्वलनदुःसहसन्निपातः ॥७६॥

अन्वयः—(हे प्रभो !) अयम् अखर्वज्वरज्वलनदुःसहसन्निपातः दम्भमयम् स्तम्भम् विजृम्भयति भ्रमम् च कञ्चित् प्रपञ्चयति, वाचि मुद्रां यच्छति, कम् नाम आमयम् न प्रथयति ?

पदार्थः—(हे प्रभो !) अयम्=यह। अखर्वगर्वज्वरज्वलन-दुःसहसन्निपातः=अखर्वोऽलघुर्महान् यो गर्वोऽहङ्कारः स एव ज्वरः तेन योज्वलनः तापरूपः स एव दुःसहः दुर्निवारः सन्निपातः—महान् अहङ्कार रूपी ज्वर से उत्पन्न सन्ताप रूप दुःसह सन्निपात। दम्भमयम्=कपटमय। स्तम्भम्=स्तब्धता को। विजृम्भयति=विकसित करता है। कञ्चित्=किसी। भ्रमम्=(असत्य में सत्य और अकार्य में कार्य रूप) भ्रम को। प्रपञ्चयति=फैलाता है। वाचि=वाणी में। मुद्राम्=मौनता को। यच्छति=प्रदान करता है। कम् नाम आमयम्=किस रोग को। न=नहीं। प्रथयति=विस्तारित करता है ?

श्लोकार्थः–भगवन् जैसे सन्निपात ज्वर वात की विषमता से लोगों को काष्ठ के समान स्तब्ध कर देता है, पित्त की विषमता से भ्रम का विस्तार कर देता है (न पित्तेन विना भ्रमः) और श्लेष्मा या कफ की विषमता से मूक बना देता है, वैसे ही महान् अहंकार रूपी ज्वर से उत्पन्न सन्तापरूप दुःसह सन्निपात मनुष्यों को स्तब्ध (कपटमय) बना देता है। असत्य में सत्य और अकार्य में कार्य रूप भ्रम फैलाता है तथा वाणी को मूक बना देता है। इस प्रकार प्रभो ! यह अहङ्कार रूपी सन्निपातज्वर किस किस रोग को उत्पन्न नहीं करता ? अर्थात् सभी काम क्रोधादि रोगों को पैदा करता है।

विशेषः—यहाँ रूपक यमक तथा वृत्त्यनुप्रास है।

> **तत्साम्प्रतं भुवनविश्रुतहस्तसिद्धिं**
> **त्वामोषधीपतिशिखामणिमाश्रयामि।**
> **मौनं विमुद्रय दरिद्रय मोहनिद्रां**
> **विद्रावय द्रुतमुपद्रवमिन्द्रियाणाम् ॥७७॥**

अन्वयः—तत् (हे नाथ !) साम्प्रतम् भुवनविश्रुतहस्तसिद्धिम् त्वाम् ओषधीपतिशिखामणिम् (अहम्) आश्रयामि। (हे विभो ! मौनम् विमुद्रय, मोहनिद्राम् दरिद्रय, इन्द्रियाणाम् उपद्रवम् (च) द्रुतं विद्रावय।

पदार्थः—तत्=उस कारण से। (हे नाथ !) साम्प्रतम्=इस समय (अब)। भुवनविश्रुतहस्तसिद्धिम्=भुवनेषु विश्रुता हस्तानामष्टादशभुजानां सिद्धिर्यस्य तम् "अष्टादशभुजं देवं नीलकण्ठं सुतेजसम्" इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रोक्तेः–

अष्टादश भुजाधारी के रूप में प्रसिद्ध, अथवा, भुवनेषु विश्रुता हस्तसिद्धिर्हस्त-प्राशस्त्यम् यस्य तम्–जिसके हाथ में यश हो ऐसा महायशस्वी। त्वाम्=तुमको। ओषधीपतिशिखामणिम्=ओषधीपतिश्चन्द्रः शिखामणिश्चूडामणिर्यस्य स तम्–चन्द्रचूडामणि, अथवा, ओषधीपतीनाम् वैद्यानाम् शिखामणिः श्रेष्ठस्तम्=वैद्यश्रेष्ठ को। अहम्=मैं। आश्रयामि=शरण में आता हूँ। (मम=मेरी) मौनम्=वाणी के स्तम्भन को। विमुद्रय=दूर करो। मोहनिद्राम्=मूर्च्छा और निद्रा, अथवा अज्ञान निद्रा को। दरिद्रय=क्षीण करो। इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों के। उपद्रवम्=चञ्चलतारूप दोष को। द्रुतम्=शीघ्र। विद्रावय=शान्त करो।

श्लोकार्थः—इस कारण हे नाथ! (जैसे कोई सन्निपात का रोगी लोक में प्रख्यात हस्त सिद्धि वाले (जिसके हाथ में यश हो, ऐसे महायशस्वी) ओषधीश शिखामणि (श्रेष्ठ वैद्य) की शरण ले, तो वह वैद्य उस रोगी के मौन (वाणी का स्तम्भन) मोहनिद्रा (मूर्छा और निद्रा) और इन्द्रियों के प्रबल दोषों को शीघ्र शान्त कर देता है, वैसे ही हे नाथ! अहंकार रूपी सन्निपात से पीड़ित) मैं अब आप समस्त भुवनों में विख्यात हस्तसिद्धि वाले (अष्टादश भुजाधारी के रूप में प्रसिद्ध) ओषधीपति शिखामणि (चन्द्रचूड़ामणि) की शरण में आया हूँ। अतः हे प्रभो! मेरे मौन (आपकी स्तुति के विषय में अवर्णनीयत्व रूप) दोष को दूर कर दीजिये, मोहनिद्रा (अज्ञानरूपी निद्रा) को क्षीण कर दीजिये और चक्षुररादि इन्द्रियों के उपद्रव (चञ्चलतारूप दोष) को शान्त कर दीजिए।

विशेषः—इस पद्य में वृत्यनुप्रास अलङ्कार है।

विस्रम्भमम्भसि भजे भगवन्नगाधे
बाधे रिपुव्यवसितेऽप्यलसीभवामि।
जागर्मि यन्न समवर्तिनि हन्तुकामे
का मे गतिर्यदि करोषि मनागवज्ञाम् ॥७८॥

अन्वयः—भगवन् (अहम् मूढः) अगाधे अम्भसि विस्रम्भम् भजे। रिपुव्यवसिते बाधे अपि अलसीभवामि यत् हन्तुकामे समवर्तिनि न जागर्मि (अतः हे विभो! त्वम्) यदि मनाक् (एव) अवज्ञाम् करोषि, तर्हि का गतिः?

पदार्थः—भगवन् ! (अहम् मूढः=मैं मूढ हूँ) अगाधे=अथाह । अम्भसि=जल में । विस्रम्भम्=(थाह वाला समझ कर) आश्वस्त । भजे=हो जाता हूँ । रिपुव्यवसिते=रिपुभिः शत्रुभिः व्यवसिते निश्चिते-शत्रुओं के द्वारा निश्चित । बाधे=मारण के । अपि=भी । अलसीभवामि=आलसी बना रहता हूँ । यत्=जो । हन्तुकामे=मारने की इच्छा वाले । समवर्तिनि=यमराज के । न जागर्मि=नहीं जागता हूँ । (अतः हे विभो । त्वम्=अतः हे विभो ! तुम) यदि । मनाक् (एव)=थोड़ा भी । अवज्ञाम्=अवहेलना (उपेक्षा) । करोषि=करोगे । तर्हि=तो । मे=मेरी । का=कौन । गतिः=गति (होगी) ।

श्लोकार्थः—हे भगवन् ! मैं मूढ हूँ, अथाह जल को (थाह वाला समझ कर) विश्वस्त हो जाता हूँ और शत्रुओं द्वारा मारने का निश्चय किये जाने पर भी आलसी बना रहता हूँ, अर्थात् बचाव के लिये उद्योग नहीं करता जो कि यमराज के द्वारा मारने की इच्छा करने पर भी सचेत नहीं होता । अर्थात् मुझ मूढ़ का यमराज के मारने की इच्छा करने पर जागरूक न होना अथाह जल को थाह समझकर विश्वास के साथ उसमें पैठने की तरह और शत्रुओं द्वारा मारने का निश्चय कर लेने पर भी अपने बचाव के लिये उद्योग न करने की तरह प्राणघातक है । (ऐसी स्थिति में हे विभो ! अब दया के सागर आप) यदि थोड़ी भी उपेक्षा करें, तो मेरी क्या गति होगी ?

विशेष।—इस पद्य में छेकानुप्रास वृत्त्यनुप्रास तथा यमक अलङ्कार है ।

यस्ते ददाति रवमस्य वरं ददासि
यो वा मदं वहति तस्य दमं विधत्से ।
इत्यक्षरद्वयविपर्ययकेलिशीलः
किं नाम कुर्वति नमो न मनः करोषि ॥७६॥

अन्वयः—(हे विभो !) यः ते रवम् ददाति, अस्य त्वम् वरम् ददासि । वा यः मदं वहति, तस्य दमम् विधत्से । इति अक्षरद्वयविपर्ययकेलिशील। (त्वम्) नमः कुर्वति (मयि मनः किं नाम न करोषि ?

पदार्थः—(हे विभो !) यः=जो (धर्मात्मा पुरुष) ते=तुमको । रवम्=(पूजन के समय आपके सामने गाल बजा कर आपको अपना) मुखवाद्य

अथवा दीन आक्रन्दन। ददाति=देता है (सुनाता है)। अस्य=इसके लिये त्वम्=तुम। वरम्=(रव का उलटा) 'वर' देते हो यः=जो। मदम्=मद (अहंकार)। वहति=करता है। तस्य=उसका। दमम्=दमन। विधत्से=करते हो। इति=इस प्रकार। अक्षरद्वयविपर्ययकेलिशीलः=दो अक्षरों के विपर्यय की क्रीड़ा करने वाले। (त्वम्=तुम) नमः कुर्वति (मयि)=नमस्कार करते हुये मेरे ऊपर। मनः=('नमः' का उलटा) मन अर्थात् अपना अन्तः करण। किं नाम क्यों। न=नहीं। करोषि=करते हो ?

श्लोकार्थः—जो धन्यात्मा पुरुष (पूजन के समय) आपको 'रव' देता है अर्थात् जो आपके आगे गाल बजाकर आपको अपना मुखवाद्य या दीन आक्रन्दन सुनाता है, उसे आप ('रव' का उलटा) 'वर' देते हो। जो 'मद' (अहंकार) करता है, उसे आप (बदले में 'मद' का उलटा) 'दम' (दमन रूप दण्ड) देते हो। इस प्रकार भगवन् ! 'रव' 'मद' आदि दो दो अक्षरों वाले पदों का उलटा कर देना) आपका स्वभाव ही है। फिर आपको 'नमः (नमस्कार करने वाले (मुझ अनाथ) पर आप ('नमः' का उलटा) मनः (अपना चित्त अर्थात् अपना अन्तः करण क्यों नहीं करते, अर्थात् मेरी सुधि क्यों नहीं लेते ?

विशेषः—यहाँ अनुप्रास तथा विषमालङ्कार है।

> **चन्द्रः करे शिरसि चक्षुषि पादमूले**
> **मूर्तावपीति शिव चन्द्रसुभिक्षमेतत्।**
> **तापान्धकारविधुरं शरणागतं कि—**
> **मायातु लङ्घितवतस्तव मोघभावम् ॥८०॥**

अन्वयः—शिव ! तव करे शिरसि चक्षुषि पादमूले मूर्तौ अपि चन्द्रः (अस्ति) इति एतत् चन्द्रसुभिक्षम्, तापान्धकारविधुरम् शरणागतम् मा लङ्घितवतः तव मोघभावम् किम् आयातु ?

पदार्थः—हे शिव ! तव=तुम्हारे। करे=हाथ में। शिरसि=सिर पर। चक्षुषि=नेत्र में। पादमूले=पादकमल में। मूर्तौ अपि =तथा मूर्ति में। चन्द्रः (अस्ति)=चन्द्रमा है। इति एतत्=ऐसा यह। चन्द्रसुभिक्षम्=चन्द्रमाओं का सुकाल

(बाहुल्य)। तापान्धकारविधुरम्=तापत्रय और अज्ञानरूप अन्धकार से विकल। शरणागतम्=शरण में आये हुये। माम्=मुझको। लङ्घितवतः=उपेक्षित करने वाले। तव=तुम्हारी। मोघभावम्=निरर्थकता को। किम् आयातु=क्यों प्राप्त करे।

श्लोकार्थः—हे सदाशिव ! आपके हाथ में चन्द्र है, मस्तक में चन्द्र है, वामनेत्र में चन्द्र है, सेवाकारी के रूप में पादकमल में चन्द्र है और मूर्ति में भी चन्द्र है। आपका यह चन्द्रसुभिक्ष (चन्द्रमाओं का सुकाल) मुझ तापत्रय और अज्ञानरूप अन्धकार से विकल शरणागत को अवहेलना से उपेक्षित कर (मेरा सन्ताप शान्त न कर) क्यों निरर्थक हो ? अर्थात् आप इस स्वायत्त चन्द्रसुभिक्ष से मेरे तापत्रय और अज्ञानान्धकार को मिटा कर इसे सफल कीजिये, यह भाव है।

विशेषः—यहाँ अनुप्रास रूपक तथा विशेषोक्ति अलङ्कार है।

कौटिल्यमिन्दुदलतो न सुधामयत्व—
मूष्माणमूर्ध्वनयनान्न परं प्रकाशम्।
मालिन्यमेव गलतो न गभीरभावं
त्वत्तोऽपि मे तितउकल्पमवाप चेतः॥८१॥

अन्वयः—(हे नाथ ! प्रतिक्षणम् भवदीयध्यानासक्तम्) तितउकल्पम् चेतः त्वत्तः अपि इन्दुदलतः कौटिल्यम् (एव) अवाप, सुधामयत्वम् न। ऊर्ध्वनयनात् ऊष्माणम् (एव) (अवाप) परम् प्रकाशम् न। गलतः मालिन्यम् एव (अवाप) गभीरभावम् न।

पदार्थः—(हे नाथ ! प्रतिक्षण आपके ध्यान में आसक्त) तितउकल्पम्=चालनी की तरह "चालनी तितउः पुमान्" इत्यमरः। मे=मेरा। चेतः=चित्त। त्वत्तः अपि= तुमसे भी। इन्दुदलतः=चन्द्रकला से। कौटिल्यम्=कुटिलता (एव) अवाप=प्राप्त किया। सुधामयत्वम्=अमृतमयता। न=नहीं। ऊर्ध्वनयनात् (भाल-नेत्र, अग्नि से। ऊष्माणम्=सन्ताप को (ही) अवाप=प्राप्त किया। परं प्रकाशम् न परम प्रकाश नहीं। गलतः=कण्ठ से। मालिन्यम्=मलिनता ही। अवाप=प्राप्त किया। गभीरभावम् न=गम्भीरता नहीं।

श्लोकार्थ।—हे नाथ ! तितउ (चालनी) के समान, सार वस्तु को छोड़कर असार वस्तु को ही ग्रहण करने वाले मेरे चित्त ने (प्रतिक्षण आपके ध्यान में आसक्त होकर भी) आपकी चन्द्रकला से केवल कुटिलता ही ग्रहण की, अमृतमयता नहीं, आपके ऊर्ध्वनेत्र (भालनेत्र अग्नि) से केवल अहङ्कार रूप सन्ताप ही ग्रहण किया, परम प्रकाश नहीं, और आपके कण्ठ से केवल मलिनता ही ग्रहण की, गम्भीरता नहीं। अर्थात् जैसे चालनी सार वस्तु को छोड़ कर केवल असार वस्तु को ही ग्रहण करती है, वैसे ही मेरे चित्त ने आपका ध्यान करते हुये भी आप जैसे सर्वगुणनिधान प्रभु से भी केवल असारता ही ग्रहण की।

विशेष:—यहाँ उपमा अपह्नुति तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

किं वर्णयामि गुरुतां विपदः पदे मां
स्थाणोर्न्ययुङ्क्त यदियं सहसोपदिश्य।
निः शाखतां सुमनसामनुपेयभावं
विच्छायतां विफलतां रसहीनतां च ॥८२॥

अन्वय:—अहम् विपदः गुरुताम् किं वर्णयामि, यत् इयम् निःशाखताम् सुमनसाम् अनुपेयभावम् विच्छायताम् विफलताम् रसहीनताम् च उपदिश्य सहसा माम् स्थाणोः पदे न्ययुङ्क्त।

पदार्थ।—अहम्=मैं। विपदः=विपत्ति की। गुरुताम्=गरिमा को। किं वर्णयामि=कैसे वर्णन करूँ। यत्=जो। इयम्=यह। निःशाखताम्=शाखा हीनता। सुमनसाम्=देवों या विद्वानों (पक्षान्तर में—पुष्पों) की। अनुपेयभावम्=अप्राप्यता का। विच्छायताम्=श्वेत पीत आदि कान्ति से विहीनता (पक्षान्तर में—छाया विहीनता)। रसहीनताम्=ऐहिक सुख वासनाओं से शून्यता (पक्षान्तर में—नीरसता) का। उपदिश्य=उपदेश देकर। सहसा माम्=अचानक मुझे। स्थाणोः=शम्भु के (पक्षान्तर में-ठूंठके) पदे=पद पर। न्ययुङ्क्त=नियुक्त कर दिया।

श्लोकार्थ:—मैं अपनी विपत्ति की महिमा का कैसे वर्णन करूँ, जिसने मुझे शम्भु के स्थान में शाखाहीनता (निराधारता) सुमनसों (देवों या

विद्वानों) की अप्राप्यता । विच्छायता (श्वेत पीत आदि कान्ति से विहीनता) विफलता (सकाम कर्मफलों की इच्छा से विमुखता) और रसहीनता (ऐहिक सुख वासनाओं से शून्यता) का उपदेश देकर शीघ्र ही स्थाणु (भगवान् शङ्कर) के पद (चरण) में नियुक्त किया।

श्लेष के आधार पर इसका दूसरा भी अर्थ निकलता है, जिससे रूपक द्वारा प्रार्थी की बाह्य विपत्ति का चित्र खिंच आता है। वह इस प्रकार है - मैं अपनी विपत्ति की गुरुता का क्या बखान करूँ, जिसने मुझे शाखा विहीनता सुमनसों (पुष्पों) की अप्राप्यता, विच्छायता (छाया विहीनता) विफलता (फलरहितता) और रसहीनता (नीरसता) का उपदेश देकर स्थाणु (ठूँठ) के स्थान पर नियुक्त कर दिया।

विशेषः—इस पद्य में श्लेष यथासंख्य तथा छेकानुप्रास है।

> **सर्वज्ञशम्भुशिवशंकरविश्वनाथ—**
> **मृत्युञ्जयेश्वर मृडप्रभृतीनि देव ।**
> **नामानि तेऽन्यविषये फलवन्ति किंतु**
> **त्वं स्थाणुरेव भगवन् मयि मन्दभाग्ये ॥८३॥**

अन्वयः—देव ! सर्वज्ञ-शम्भु-शिव-शङ्कर-विश्वनाथ-मृत्युञ्जयेश्वर-मृड-प्रभृतीनि ते नामानि अन्यविषये फलवन्ति [सन्ति]। किन्तु भगवन्, मन्दभाग्ये मयि त्वम् स्थाणुः एव।

पदार्थः—देव ! सर्वज्ञ, शम्भु, शिव, शङ्कर, विश्वनाथ, मृत्युञ्जयेश्वर, मृड आदि। ते=तुम्हारे। नामनि=नाम। अन्यविषये=दूसरों के विषय में। फलवन्ति=फलवान् (सफल)। सन्ति=हैं। किन्तु भगवन्। मन्दभाग्ये=मन्द भाग्य वाले। मयि=मेरे ऊपर। त्वम्=तुम। स्थाणुः=ठूँठ। एव=ही (हो)।

श्लोकार्थ :—हे स्वयंप्रकाश परमेश्वर ! आपके सर्वज्ञ शम्भु, शिव, शङ्कर, विश्वनाथ, मृत्युञ्जय, ईश्वर, मृड आदि सभी अन्वर्थ नाम अन्य भाग्यशाली भक्त लोगों के लिए फलप्रद होने से सफल हैं। अर्थात् आप भक्त का क्लेश जानकर उसे मिटाने से 'सर्वज्ञ' (सर्वम् जानातीति सर्वज्ञः—सब कुछ जानने वाला) इस नाम को चरितार्थ करते हैं। किसी को परम कल्याण

प्रदान कर अपने 'शम्भु (शम्भवति अस्मात् इति शम्भुः=परम कल्याण–मोक्ष देने वाला) नाम को चरितार्थ करते हैं। किसी को मङ्गल देकर 'शिव' नामको चरितार्थ करते हैं। इसी प्रकार आपके शङ्कर, विश्वनाथ, मृत्युञ्जय, ईश्वर, मृड इत्यादि सभी सुन्दर नाम भाग्यवान् भक्तों को उत्तम फल देकर चरितार्थ होते हैं। किन्तु मुझ अभागे के विषय में ता आप केवल स्थाणु (ठूँठ) अर्थात् पत्र पुष्प फल और शाखा से रहित सूखा वृक्ष (प्रलय में भी अचल रहने वाले) ही हैं।

विशेषः—इस पद्य में वृत्यनुप्रास तथा श्लेष अलङ्कार है।

श्वेते सुदर्शनसमर्पणतत्परस्य
कृष्णे च यस्य न बभूव विशेषबुद्धिः।
सत्त्वं श्रियं सृजसि पुण्यजनेषु मां च
मुञ्चस्यपुण्यजनमेष विधिः क्षतो मे ॥८४॥

अन्वयः—[हे विभो !] श्वेते कृष्णे च सुदर्शनसमर्पणतत्परस्य यस्य विशेषबुद्धिः न बभूव, सः त्वम् पुण्यजनेषु श्रियम् सृजसि, माम् च अपुण्यजनम् मुञ्चसि। एषः मे विधिः क्षतः।

पदार्थः—[हे विभो !] श्वेते=राजा श्वेत पर। कृष्णे च=और श्री कृष्ण (विष्णु) पर। सुदर्शनसमर्पणतत्परस्य=शोभनं दर्शनं सुदर्शनं तस्य समर्पणे प्रदाने तत्परस्य-अपना सुन्दर दर्शन प्रदान करने में तत्पर (श्री कृष्ण के पक्ष में-सुदर्शनाख्यचक्रस्य समर्पणं तत्परस्य=सुदर्शन चक्र प्रदान करने में तत्पर। यस्य=जिसकी। विशेषबुद्धिः=भेददृष्टि। न बभूव=नहीं हुई। सः त्वम्=वह तुम। पुण्यजनेषु=पुण्यजनों को। श्रियम्=श्रेय को। सृजसि=प्रदान करते हो। माम् च=और मुझे। अपुण्यजनम्=पुण्यहीनजन को। मुञ्चसि=परित्याग कर रहे हो। एषः=यह। मे=मेरा। विधिः=भाग्य। क्षतः=नष्ट (है)।

श्लोकार्थः—हे विभो ! राजा श्वेत को सुदर्शन (अपना सुन्दर दर्शन) और भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु) को सुदर्शन-चक्र समर्पण करने में जिस आपकी (श्वेत और कृष्ण दोनों विरुद्ध वर्ण वालों में) किञ्चिन्मात्र भी विषमबुद्धि (भेद-दृष्टि) नहीं हुयी, वही आप जो पुण्यजनों (कुबेर आदिकों) को श्रेय

प्रदान करते हो, और मुझ अपुण्यजन (पुण्यहीन जन) का परित्याग करते हो, यह मेरा ही मन्द भाग्य है।

विशेषः—इस पद्य में श्लेष तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

आवर्जनं क्रतुभुजां गजवाजिरत्न—
श्रीपारिजातमदिरेन्दुसुधार्पणेन।
कृत्वाग्रहीर्गरलमात्मनि यन्महिम्ना
सा ते क्व सम्प्रति कृपा मयि मन्दभाग्ये ॥८५॥

अन्वयः—[हे विभो !] गजवाजिरत्नश्रीपारिजातमदिरेन्दुसुधार्पणेन क्रतुभुजाम् आवर्जनम् कृत्वा (त्वम्) आत्मनि यन्महिम्ना गरलम् अग्रहीः, सा ते कृपा सम्प्रति मयि मन्दभाग्ये क्व [अस्ति] ?

पदार्थः—[हे विभो !] गजवाजिरत्नश्रीपारिजातमदिरेन्दुसुधार्पणेन= गज (ऐरावत हाथी) वाजि (उच्चैःश्रवा घोड़ा) रत्न (कौस्तुभमणि) श्रीः (लक्ष्मी) पारिजात (कल्पवृक्ष) मदिरा, इन्दु (चन्द्रमा) और सुधा (अमृत) के अर्पण से। क्रतुभुजाम्=यज्ञ का भोग करने वाले (देवों) का। आवर्जनम्=सन्तोष। कृत्वा=(प्रदान) करके। त्वम्=तुमने। आत्मनि=अपने में (रहने वाली) यन्महिम्ना=जिस महिमा से। गरलम्=विष को। अग्रहीः= ग्रहण किया। सा ते कृपा=वह तुम्हारी कृपा। सम्प्रति=इस समय। मयि= मुझ पर। मन्दभाग्ये=मन्दभाग्य पर। क्व [अस्ति]=कहाँ है ?

श्लोकार्थः—हे विभो ! जिस करुणा की महिमा से आपने देवताओं को गज (ऐरावत हाथी) वाजि (उच्चैः श्रवा घोड़ा) रत्न (कौस्तुभ मणि) लक्ष्मी, परिजात (कल्प वृक्ष) मदिरा, चन्द्रमा और सुधा ऐसे ऐसे उतम पदार्थ समर्पण कर उन्हें परम सन्तुष्ट और अपने वश में करके स्वयं हलाहल विष ग्रहण किया आपकी वह उदार करुणा मुझ मन्दभाग्य के लिये अब कहाँ चली गयी ?

विशेषः—यहाँ अनुप्रास यथासंख्य तथा भाविक अलङ्कार है।

दृप्तेषु ते मदनदक्षयमान्धकेषु
प्रादुर्भवन्मनसि रोषविषप्ररोहः।

सिक्तः सुधामयमसूत यया प्रसादं
सा ते क्व सम्प्रति कृपा मयि भाग्यहीने ॥८६॥

अन्वयः—दृप्तेषु मदनदक्षयमान्धकेषु ते मनसि प्रादुर्भवन् [यः] रोष-विषप्ररोहः यया सिक्तः सन् सुधामयम् प्रसादम् असूत, सा ते कृपा सम्प्रति मयि भाग्यहीने क्व [अस्ति] ?

पदार्थः—दृप्तेषु=(त्रैलोक्य विजयी होने के कारण) अत्यन्त अहंकारी हो जाने पर। मदन-दक्ष-यमान्धकेषु=कामदेव, दक्षप्रजापति, यमराज और अन्धकासुर के। ते=तुम्हारे। मनसि=मन में। प्रादुर्भवन्=उत्पन्न। [यः=जो] रोषप्ररोहः=क्रोधरूपी विष के अङ्कुर ने। यया=जिस (कृपा) से। सिक्तः=सिञ्चित होकर। सुधामयम्=अमृतमय। प्रसादम्=प्रसन्नता को। असूत=पैदा किया। सा=वह। ते=तुम्हारी। कृपा। मयि=मेरे ऊपर। भाग्यहीने=भाग्य-हीन पर। क्व [अस्ति]=कहाँ है ?

श्लोकार्थः—हे विभो ! त्रैलोक्य विजयी होने के कारण अत्यन्त अहंकारी कामदेव, दक्ष प्रजापति, यमराज और अन्धकासुर के प्रति आपके मन में उत्पन्न क्रोध रूपी विष के अंकुर ने जिस कृपा से सिञ्चित होकर पुनः [उन्हीं लोगों के लिए] संजीवन रूप अमृतमय प्रसाद उत्पन्न किया, आपकी वह उदार करुणा मुझ भाग्यहीन के लिए अब कहाँ चली गयी है ?

विशेषः—इस पद्य में रूपक यथासंख्य तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

केचिद् वरस्य भगवन्नभयस्य केचि—
त्सान्द्रस्य केचिदमृतस्य करस्थितस्य।
प्रापुः कृपाप्रणयिनस्तव भाजनत्वं
शूलस्य केवलमभाग्यपरिक्षतोऽहम् ॥८७॥

अन्वयः—भगवन् ! केचित् कृपाप्रणयिनः तव वरस्य भाजनत्वम् प्रापुः। केचित् तव अभयस्य [भाजनत्वम् प्रापुः]। केचित् तव करस्थितस्य सान्द्रस्य अमृतस्य [भाजनत्वम् प्रापुः। किन्तु] अभाग्यपरिक्षतः अहम् केवलम् शूलस्य भाजनत्वम् [प्रापम्]।

श्लोकार्थः—भगवन् ! केचित्=कोई (भक्त जन)। कृपाप्रणयिनः=

(आपकी) कृपा चाहने वाले । तव=तुम्हारे । वरस्य='वर' की । भाजनत्वम्=पात्रता को । प्रापुः=प्राप्त हुये । केचित् । तव । अभयस्य=अभय की [पात्रता को प्राप्त हुये] केचित् । तव । अमृतस्य=अमृत की [पात्रता को प्राप्त हुए] [किन्तु] अभाग्यपरिक्षतः=दुर्भाग्य से बाधित । अहम् । केवलम् । शूलस्य=शूल की । [पात्रता को प्राप्त किया] ।

श्लोकार्थः—हे भगवन् ! [आपके एक हाथ में 'वर' दूसरे में 'अभम', तीसरे में 'अमृत कलश' और चौथे में 'शूल' है । इनमें से] आप की कृपा चाहने वाले कोई भक्त आपके 'वर' के पात्र बने, अर्थात् किन्हीं भक्तों को आपने 'वर' दिया । कोई लोग आपके 'अभय' के पात्र बने । कोई भाग्यवान् आपके करकमलस्थ घनीभूत अमृत के पात्र हो गए । किन्तु अभागा मैं केवल आपके शूल (त्रिशूल या शूल रोग) का ही पात्र बना ।

विशेषः—यहाँ शब्दश्लेष है ।

अभ्रान्तवृत्ति भवतान्तरधिष्ठितं मे
चेतः प्रकाशवपुषा रविणेव विम्बम् ।
सोपप्लवं यदि कृतम् तमसा कदाचि
दक्षीणपुण्यमहिमैव तदाविभाति ॥८८॥

अन्वयः—प्रकाशवपुषा रविणा विम्बम् इव भवता अन्तः अधिष्ठितम् अभ्रान्तवृत्ति मे चेतः यदि कदाचित् तमसा सोपप्लवम् कृतम्, तदा अक्षीण-पुण्यमहिम एव विभाति ।

पदार्थः—प्रकाशवपुषा=(सूर्य के पक्ष में-प्रकाश रूप शरीर वाले) (शिव के पक्ष में-परमज्योति रूप वाले ।) रविणा=सूर्य के द्वारा । बिम्बम् इव=मंडल की तरह । भवता=आप के द्वारा । अन्तः अधिष्ठितम्=अन्तस् में अधिष्ठित (होने के कारण) अभ्रान्तवृत्ति=(सूर्य के विम्ब के पक्ष में-अभ्रस्याकाशस्यान्तस्तत्र वृत्तिः स्थितिर्यस्य—आकाश के मध्य में स्थित) [कवि के चित्त के पक्ष में-न भ्रान्ता भ्रमयुक्ता वृत्तिर्यस्य—भ्रम से रहित] मे=मेरा । चेतः=चित्त । यदि कदाचित् । तमसा=(सूर्य के पक्ष में-राहु के द्वारा) 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः' इत्यमरः' (चित्त के पक्ष में-अज्ञान से) । सोपप्लवम्=उपद्रवयुक्त । कृतम्=

किया जाय । तदा=तब [भी] अक्षीणपुण्यमहिमः=क्षीण पुण्य नहीं । विभाति=जान पड़ता ।

श्लोकार्थः—प्रभो ! जिस प्रकार आकाश के मध्य में स्थित सुप्रकाशमय सूर्यदेव से अधिष्ठित विम्ब (सूर्य मण्डल) यदि कदाचित् तम (राहु) से ग्रस्त हो जाय अर्थात् सूर्यमण्डल में कभी राहु का ग्रहण लग जाय तो भी उसके पुण्य की महिमा क्षीण नहीं होती। इसी प्रकार मेरे अन्तर में आप परमज्योति स्वरूप चित्प्रकाशमय परब्रह्म परमेश्वर के अधिष्ठित होने के कारण भ्रान्तिमयी वृत्ति (भ्रम) से रहित अर्थात् एकमात्र आप में ही परायण मेरा चित्त यदि कदाचित् तम (अज्ञान) से सोपद्रव हो जाय, तो भी उसके पुण्य की महिमा क्षीण नहीं होती ।

विशेष।—यहाँ श्लेष सङ्कीर्ण पूर्णोपमा तथा अनुप्रास अलङ्कार है ।

जानामि नामृतमयं हृदयं प्रवेष्टु—
मुद्दामदुःखदवदाहहतस्तवाहम् ।
धर्तुं हृदि त्रिदशसिन्धुसुधासुधांशु—
शीतं भवन्तमपि न प्रभवामि धिङ्माम् ॥८६॥

अन्वयः—[हे विभो !] उद्दामदुःखदवदाहहतः अहम् तव अमृतमयम् हृदयम् प्रवेष्टुम् न जानामि, त्रिदशसिन्धुसुधासुधांशुशीतम् भवन्तम् अपि हृदि धर्तुम् न प्रभवामि, [इति उभयथा] माम् धिक् ।

पदार्थः—[हे विभो !] उद्दामदुःखदवदाहहतः=उद्दामं च तद्दुःख जरामरणादिरूपं तदेव दवो दावाग्निस्तेन यो दाहस्तेन हतः—महान् दुःख रूपी दावानल के दाह से सन्तप्त । अहम्=मैं । तव=तुम्हारे । अमृतमयम् । हृदयम् । प्रवेष्टुम्=प्रवेश करने के लिए । न जानमि=नहीं जानता हूँ । त्रिदशसिन्धुसुधासुधांशुशीतम्=त्रिदशसिन्धु (गंगा) सुधा (अमृत) सुधांशु (चन्द्रमा) (के कारण) शीतल । भवन्तमपि=आपको भी । हृदि=हृदय में । धर्तुम्=धारण करने के लिए । न प्रभवामि=समर्थ नहीं हूँ । [इस प्रकार दोनों ओर से] माम्=मुझे । धिक्=धिक्कार है ।

श्लोकार्थः—हे विभो ! महान् दुःख रूपी दावानल से सन्तप्त मैं न तो

आपके अमृतमय शीतल हृदय में प्रवेश करना जानता हूँ, और न देवगंगा, सुधा एवं चन्द्रमा के सम्पर्क से सुशीतल आपको ही अपने हृदय में धारण करने में समर्थ हूँ। अतः उभयथा मुझे धिक्कार है।

विशेष:—इस पद्य में वृत्यनुप्रास रूपक तथा यमक अलङ्कार है।

क्षीणः क्षताखिलकलः प्रविलीनधामा
त्वामाश्रितोऽस्मि सवितारमिवामृतांशुः।
नास्त्येव जीवनकला मम काचिदन्या
पादार्पणेन कुरुषे यदि न प्रसादम् ॥६०॥

अन्वयः—क्षीणः क्षताखिलकलः प्रविलीनधामा [अहम्] अमृतांशुः सवितारम् इव त्वाम् आश्रितः अस्मि। यदि [त्वम्] पादार्पणेन प्रसादम् न कुरुषे [तर्हि] मम काचित् अन्या जीवनकला न एव अस्ति।

पदार्थः—क्षीणः=अत्यन्त क्षीण। क्षताखिलकलः=(कवि के पक्ष में-शिल्प आदि सभी कलाओं से हीन) (चन्द्रमा के पक्ष में–सोलहों कलाओं से हीन।) [चन्द्रमा अमावास्या के दिन सूर्य की शरण लेता है ऐसा आगम वचन है]। प्रविलीनधामा=क्षीण तेज वाला। [अहम्=मैं] अमृतांशुः=चन्द्रमा। सवितारम्=सूर्य को। इव=की तरह। त्वाम् आश्रितः अस्मि=तुम्हारे शरण में आया हूँ। यदि। [त्वम्] पादार्पणेन=कवि के पक्ष में–चरण दान से) (चन्द्रमा के पक्ष में-पादानां रश्मीनाम् अर्पणेन=रश्मियों के अर्पण द्वारा।) प्रसादम्=प्रसाद। न कुरुषे=नहीं करते। (तो) मम=मेरा। काचित्=कोई। अन्या=दूसरी। जीवनकला=जीवन का साधन। न एव अस्ति=नहीं ही है।

श्लोकार्थः—हे नाथ! जैसे अत्यन्त क्षीण, सोलहों कलाओं से हीन और निस्तेज चन्द्रमा शरणहीन होकर (जीवनरूपी कला की प्राप्ति के निमित्त) सूर्यदेव का आश्रय लेता है, वैसे ही [जन्म जरा और मरण रूप विपत्ति के त्रास से] अत्यन्त क्षीण, शिल्प आदि सम्पूर्ण कलाओं से हीन और क्षीण तेज वाला मैं अनन्य शरण होकर आपकी शरण में आया हूँ। विभो! यदि आप अपना चरणारविन्द अपर्ण कर मुझ पर अनुग्रह नहीं करते तो मेरी कोई अन्य जीवन कला (मेरे जीवन का साधन) ही नहीं है। [ठीक उसी तरह, जिस

तरह भगवान सूर्य समस्त कलाओं से विहीन चन्द्र पर, अपने पादों (रश्मियों) के अर्पण द्वारा प्रसाद न करें, तो चन्द्र के लिये जीवन रूप कोई कला शेष नहीं रहती]।

विशेष:—यहाँ श्लेष संकीर्ण पूर्णोपमा तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

घोरान्धकारविधुरं विविधोपताप—
तप्तं विपद्गुरुतुषारपराहतं माम्।
त्वं चेज्जहासि क्व कस्तपनेन्दुवह्नि-
नेत्रो हरिष्यति परस्त्रिविधां ममार्तिम् ॥६१॥

अन्वय:—[प्रभो !] घोरान्धकारविधुरम् विविधोपतापतप्तम् विपद्-गुरुतुषारपराहतम् माम् त्वम् चेत् जहासि, तदा [त्वमेव] वद, कः परः तपनेन्दुवह्निनेत्रः मम त्रिविधाम् आर्तिम् हरिष्यति ?

पदार्थ:—[प्रभो !] घोरान्धकारविधुरम्=(अज्ञान रूपी) घोर अन्धकार से व्याकुल। विविधोपतापतप्तम्=विविधैः नानाविधैः उपतापैः तप्तः तम्—अनेक प्रकार के तापों से तप्त। विपद्गुरुतुषारपराहतम्=विपत्ति रूपी गुरु (महान्) तुषार (हिम) से पराहत (पीछे ढकेला गया, पटका गया) को। माम्=मुझे। त्वम्=तुम। चेत्=यदि। जहासि=त्याग देते हो। तदा=तब। [तुम ही] वद=बोलो। कः परः=कौन दूसरा। तपनेन्दुवह्निनेत्रः=तपन (सूर्य) इन्दु (चन्द्र) वह्नि (अग्नि) को नेत्र में धारण करने वाला। मम=मेरी। त्रिविधाम्=तीनों प्रकारों की। आर्तिम्=पीडा को। हरिष्यति=हरेगा ?

श्लोकार्थ:—प्रभो ! मैं अज्ञानरूपी घोर अन्धकार से व्याकुल हूँ, आध्यात्मिक आदि अनेक प्रकार के सन्तापों से सन्तप्त हूँ तथा विपत्ति रूपी महान् तुषार (हिम) से पराहत हूँ। ऐसी दशा में यदि आप मेरी उपेक्षा कर दें तो फिर आप ही कहिये कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि को अपने (तीन) नेत्रों में धारण करने वाला कौन दूसरा मेरी इन तीन प्रकार की पीड़ाओं को दूर करेगा ? [अर्थात् मेरी त्रिविध पीड़ा को हरने के लिए आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी समर्थ नहीं है। कारण मैं (१) अज्ञान रूपी अन्धकार से व्याकुल (२) महान् तापों से सन्तप्त और (३) विपत्ति रूपी हिम से पराहत हूँ। अतः मेरी इन

त्रिविध पीड़ाओं से क्रमशः अन्धकार दूर करने के लिये सूर्य, ताप हरने के लिए चन्द्रमा और शीत निवारण के लिए अग्नि की आवश्यकता है। वे तीनों (सूर्य चन्द्रमा और अग्नि) एक मात्र आपके ही नेत्रों में हैं, अतः आप यदि मेरे दुःखों को दूर नहीं करेंगे तो फिर दूसरा कौन करेगा ? यह भाव है।]

विशेष:—इस पद्य में वृत्त्यनुप्रास तथा रूपक है।

व्यक्तिर्न यस्य न मतिर्न गतिर्न शक्ति—
र्नापि स्मृतिर्विपदपस्मृतिपीडितस्य।
तस्यौषधीशमुकुटं त्रिजगद्गुरुं त्वां
मुक्त्वा करिष्यति परो मम कश्चिकित्साम् ॥९२॥

अन्वयः—[प्रभो !] विपदपस्मृतिपीडितस्य यस्य व्यक्तिः न, मतिः न, गतिः न, शक्तिः न, स्मृतिः अपि न [अस्ति], तस्य मम त्रिजगद्गुरुम् त्वाम् ओषधीशमुकुटम् मुक्त्वा कः परः चिकित्साम् करिष्यति ?

पदार्थः—[प्रभो !] विपदपस्मृतिपीडितस्य=विपत्ति रूपी अपस्मार से पीडित। यस्य=जिसकी ! व्यक्तिः=अभिव्यक्ति। न=नहीं है। मतिः न=बुद्धि नहीं है। गतिः न=गति नहीं है। शक्तिः न=शक्ति नहीं है। स्मृतिः अपि न [अस्ति]= और स्मृति भी नहीं है। तस्य मम=उस मेरा। त्रिजगद्गुरुम्=तीनों लोकों के स्वामी। त्वाम्=तुमको। ओषधीषमुकुटम्=वैद्यशिरोमणि, अथवा ओषधीश (चन्द्रमा) सिर में मणिरूप से विराजमान हैं जिसके। मुक्त्वा=छोड़ कर। कः=कौन। परः=दूसरा। चिकित्साम्-चिकित्सा। करिष्यति=करेगा ?

श्लोकार्थः—प्रभो ! विपत्ति रूपी अपस्मार रोग से पीडित जिसकी न कोई अभिव्यक्ति है, न बुद्धि है, न गति (गमन करने की शक्ति) है, न शक्ति (कोई कार्य करने का सामर्थ्य) है और न स्मरणशक्ति ही है, ऐसे मुझ दीन की चिकित्सा (उद्धार) त्रैलोक्यगुरु आप ओषधीशमुकुट (वैद्य-शिरोमणि या चन्द्रशेखर) को छोड़ दूसरा कौन करेगा ? [कारण अपस्मार रोग से पीडित जिस पुरुष की न व्यक्ति (अङ्गों का प्राकट्य अर्थात् प्रचार) है, न मति है, न गति है, न शक्ति और न स्मृति ही है, उसकी चिकित्सा केवल एक ओषधीश-मुकुट (प्रसिद्ध वैद्यशिरोमणि के अतिरिक्त दूसरा और कौन कर सकता है ?]

विशेष :—इस पद्य में छेकानुप्रास तथा श्लेष अलङ्कार है।

त्वं निर्गुणः शिव तथाहमथ त्वदीयं
शून्यं परं किमपि धाम तथा मदीयम्।
त्वं चेद् गवि प्रविदधासि धृतिं तथाहं
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥६३॥

अन्वयः—शिव ! [यथा] त्वम् निर्गुणः [असि] तथा अहम् [अपि]। अथ त्वदीयम् परम् धाम किमपि शून्यम् तथा मदीयम् [अपि] त्वम् चेत् गवि धृतिम् प्रविदधासि, तथा [अहम् अपि गवि धृतिम् विदधामि] कष्टम् तु [एतत्, यत्] त्वम् शिवः [असि] विधिक्षतः अहम् अशिवः [अस्मि]।

पदार्थः—शिव ! [यथा] त्वम्=तुम। निर्गुणः=(प्रकृति के सत्त्व रजस् तमस् गुणों के सम्पर्क से रहित) [हो] तथा। अहम्=मैं [भी] अथ=और। त्वदीयम्=तुम्हारा। परम् धाम=परम धाम। किमपि=कोई। शून्यम्=परम ज्योतिः स्वरूप। तथा। मदीयम् [अपि]=मेरा भी। त्वम्=तुम। चेत्=यदि। गवि=गौ (वृषभ) पर। धृतिम्=स्थिति। प्रविदधासि=करते हो; तथा=उसी तरह (मैं भी गौ (वाणी) पर स्थिति करता हूँ)। कष्टम् तु=दुःख तो। [यह है, कि] त्वम्=तुम। शिवः=परम कल्याण स्वरूप (हो)। विधिक्षतः=भाग्य से पराहत। अहम्=मैं। अशिवः=सुख विहीन (हूँ)।

श्लोकार्थः—हे सदाशिव ! जैसे आप निर्गुण (प्रकृति के गुणों के सम्पर्क से रहित) हैं, वैसे ही मैं भी निर्गुण (पाण्डित्य, दया दाक्षिण्यादि सद्गुणों से रहित) हूँ। जैसे आपका परमधाम शून्य (परम ज्योतिः स्वरूप) है, वैसे ही मेरा भी धाम (गृह) अत्यन्त शून्य (दरिद्रता के कारण व्यवहारोपयोगी वस्तुओं से रहित) है। जैसे आप गौ (वृषभ) में धृति (स्थिति) रखते हैं, वैसे ही मैं भी गौ (वाणी) में प्रीति रखता हूँ। किन्तु कष्ट तो यही है कि [पूर्वोक्त प्रकार से आप और मुझमें समानता होते हुए भी] आप शिव (परम-कल्याण, आनन्द-सुधा के निधि) हैं, और मैं अभागा अशिव (सुख विहीन) हूँ।

विशेषः—इस श्लोक में श्लेष तुल्ययोगिता तथा व्यतिरेक अलङ्कार है।

कामस्त्वयीव मयि निष्फलतामवाप
क्षिप्तो मयापि विफलो भवतेव कालः।
विध्वस्तधाम मम देव वपुस्तवेव
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥६४॥

अन्वयः—कामः त्वयि इव मयि निष्फलताम् अवाप, भवता इव मया अपि कालः विफलः क्षिप्तः। देव। तव वपुः इव मम [अपि वपुः] विध्वस्तधाम [अस्ति]। कष्टं तु [एतत्] त्वम् शिवः [असि] विधिक्षतः अहम् अशिवः [अस्मि]।

पदार्थः—कामः=कामदेव (पक्षान्तर में—अभिलाषा)। त्वयि=तुम्हारे विषय में। इव=की तरह। मयि=मेरे विषय में। निष्फलताम्=विफल प्रयासता को। अवाप=प्राप्त किया। भवता इव=आपकी तरह। मया अपि=मेरे द्वारा भी। कालः=मृत्यु (पक्षान्तर में—समय) विफलः=विफल प्रयास (पक्षान्तर में—निष्फल)। क्षिप्तः=कर दिया गया। देव! तव=तुम्हारा। वपुः=शरीर। इव=की तरह। मम=मेरा [अपि वपुः=भी शरीर]। विध्वस्तधाम=विधुना चन्द्रेणास्तं क्षिप्तं धाम तेजः कान्तिस्वरूपं शिरसि चन्द्रमौलित्वाद्यत्र—चन्द्रमा के प्रकाश से युक्त (पक्षान्तर में—तेज हीन)। अस्ति=है। कष्टं तु [एतत्]=कष्ट तो यह है। त्वम्=तुम। शिवः [असि]=शिव हो। विधिक्षतः=हतभागी। अहम्=मैं। अशिवः अस्मि=अशिव हूँ।

श्लोकार्थ;—प्रभो। जैसे कामदेव आपके विषय में निष्फलता को प्राप्त (विफल प्रयास) हुआ, वैसे ही मेरे विषय में भी काम (अभिलाषा) निष्फलता को ही प्राप्त हुआ। जैसे आपने (राजा श्वेत एवं मार्कण्डेय आदि भक्तजनों की रक्षा के लिए) काल (मृत्यु) को विफल (निष्फल-प्रयास) किया, वैसे ही मैंने भी काल (अपना समय) विफल (निरर्थक) कर दिया और हे देव! आपका शरीर विध्वस्तधाम (विधुना अस्तम्=क्षिप्तं धाम यत्र सः अर्थात् चन्द्रमा के प्रकाश से युक्त) है, वैसे ही मेरा शरीर भी विध्वस्तधाम (तेज से हीन) है। पर खेद तो यही है कि [इस प्रकार आप और मैं, दोनों समान

लक्षण वाले होते हुए भी] आप तो शिव (तीनों लोकों के कल्याणदाता) हैं, और मैं अभागा अशिव—कल्याण से वञ्चित-ही हूँ।

विशेष:—यहाँ श्लेषसंकीर्ण पूर्णोपमा तथा व्यतिरेक अलङ्कार है।

यद्वद्विभो तव हृदि प्रविभाति नाग—
स्तद्वन्ममापि भवदेकपरायणस्य ।
यद्वत्स्वधर्मनिरतस्त्वमहं तथैव
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥६५॥

अन्वयः:—विभो ! यद्वत् तव हृदि नागः प्रविभाति, तद्वत् भवदेकपरायणस्य मम अपि [हृदि नागः प्रविभाति] यद्वत् त्वम् स्वधर्मनिरतः (असि), तथैव अहम् (अपि स्वधर्मनिरतः अस्मि)। कष्टं तु (एतत्) त्वम् शिवः (असि) विधिक्षतः अहम् तु अशिवः (अस्मि)।

पदार्थः:—विभो !=हे सर्व व्यापक परमेश्वर ! यद्वत्=यथा। तव=तुम्हारे। हृदि=हृदय पर (में)। नागः=सर्प (वासुकि) (पक्षान्तर में—न आगः अपराधः—अपराध का अभाव) प्रविभाति=भासित हो रहा है। तद्वत्=तथा (उसी प्रकार)। भवदेकपरायणस्य=एक मात्र आप के (चरणों में) परायण। मम अपि=मेरे भी। (हृदय में नाग है) यद्वत्=जैसे। त्वम्=स्वधर्मनिरतः=स्वे धर्मे वृषे निरतः सक्तः—अपने वृष में निरत (पक्षान्तर में—अपने धर्म में तत्पर) (हो) तथैव अहम्=उसी प्रकार मैं (भी स्वधर्म निरत हूँ)। कष्टं तु (एतत्)=कष्ट तो यह है। त्वम्=तुम। शिवः (असि)=शिव हो। विधिक्षतः=भाग्यहीन। अहम् तु=मैं तो। अशिवः=मङ्गलविहीन (हूँ)।

श्लोकार्थः:—हे बिभो ! जैसे आपके हृदय में नाग (सर्प वासुकि) शोभित होता है, वैसे ही मेरे भी हृदय में नाग (न आगः—अपराध नहीं) है, क्योंकि मैं भवदेकपरायण (एकमात्र आपके ही चरणों में परायण) हूँ। जैसे आप स्वधर्म निरत (अपने वृषभ—वृष में निरत) हो, वैसे ही मैं भी स्वधर्मनिरत (अपने धर्म में तत्पर) हूँ। इस प्रकार आप और मुझमें समानता होने पर भी खेद है कि आप शिव हो, किन्तु मैं अभागा अशिव (मङ्गलविहीन) हूँ।

विशेष।— यहाँ श्लेषसङ्कीर्ण पूर्णोपमा तथा व्यतिरेक अलङ्कार है।

मूर्तिस्तवेव शिव मे विधुरोचितेयं
दृष्टिस्तवेव भगवन् विषमः ममापि।
शूली विषादहतशक्तिरहं यथा त्वं
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥९६॥

अन्वयः—शिव ! तव मूर्तिः इव इयम् मे मूर्तिः विधुरोचिता (अस्ति)। मम अपि दृष्टिः तव दृष्टिः इव विषमा (अस्ति) (यथा त्वम् विषात् अहत-शक्तिः (असि, तथा) अहम् (अपि विषादहतशक्तिः अस्मि)। कष्टम् तु (एतत्) त्वम् शिवः (असि) विधिक्षतः अहम् अशिवः (अस्मि)।

पदार्थः—शिव ! तव=तुम्हारी। मूर्तिः। इव=की तरह। इयम्=यह। मे=मेरी। मूर्तिः=मूर्ति। विधुरोचिता=(शिव में पक्ष में—) विधु-रोचिता चन्द्रमा से सुशोभित, (कवि के पक्ष में)-दीनता से युक्त है। मम अपि= मेरी भी। दृष्टिः=दृष्टि। तव=तुम्हारी। दृष्टिः इव=दृष्टि की तरह। विषमा= (शिव के पक्ष में—) तीन होने से विषम संख्या वाली (कवि के पक्ष में—) भेद भाव युक्त। (है)। यथा=जैसे। त्वम्=तुम। विषादहतशक्तिः =(शिव के पक्ष में—) विषात् अहता=अक्षीण शक्ति (कवि के पक्ष में—विषादेन हता क्षीणा शक्तिर्यस्य— विषाद—खेद से हत शक्तिवाला) हो। कष्टम् तु (एतत्)= कष्ट तो यह है। त्वम्=तुम। शिवः (असि)=शिव हो। विधिक्षतः अहम्= हतभागी मैं। अशिवः (अस्मि)=मङ्गलविहीन हूँ।

श्लोकार्थः—हे सदाशिव। जैसे आपकी मूर्ति विधुरोचिता (चन्द्रमा से सुशोभित) है, वैसे ही मेरी भी यह मूर्ति विधुरोचिता (दीनता से युक्त) है। जैसे आप की दृष्टि विषमा—तीन नेत्र होने के कारण विषम संख्या वाली है, उसी प्रकार मेरी भी दृष्टि विषमा—भेदभाव से भरी है। जैसे आप शूली (त्रिशूलधारी) हैं, वैसे ही मैं भी शूली (दुःख रूपी शूल रोग से पीड़ित) हूँ। जैसे आप विषादहतशक्ति—विषात् अहतशक्ति (हालाहल के पान से अक्षीण शक्ति) हो, वैसे ही मैं भी विषादहतशक्ति (विषाद-खेद से हतशक्ति) हूँ।

इस प्रकार आप और मेरे एक समान होने पर भी खेद है कि आप शिव (आनन्दमय) हो और मैं अभागा अशिव (सुख से विहीन) हूँ।

विशेष:—यहाँ श्लेषसङ्कीर्ण मालोपमा तथा व्यतिरेक है।

कण्ठे विषं वसति मे विषमं तवेव
भूतेश्वरः पशुपतिश्च भवानिवाहम्
अङ्गं ममापि गुरुरुग्ज्वलितं तवेव
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम् ॥६७॥

अन्वयः—(हे शिव !) तव इव मे कण्ठे विषमम् विषम् वसति, भवान् इव अहम् भूतेश्वरः पशुपतिः च अस्मि। तव इव मम अपि अङ्गम् गुरु -रुग् ज्वलितम् (अस्ति) कष्टं तु (एतत्) त्वम् शिवः (असि) विधिक्षतः अहम् तु अशिवः (अस्मि)।

पदार्थः—(हे शिव !) तव=तुम्हारी। इव=तरह। मे=मेरे। कण्ठे= गले में। विषमम् विषम्=(शिव के पक्ष में—) हालाहल विष, (कवि में पक्ष में-) मात्सर्य रूपी विषम विष। वसति=निवास करता है। भवान् इव=आपकी तरह। अहम्=मैं। भूतेश्वरः=(शिव के पक्ष में)—सम्पूर्ण प्राणियों के ईश्वर, (कवि के पक्ष में—) महान् उग्र-क्रूर लोगों का अग्रणी। पशुपतिः=शिव के पक्ष में—) अणु माया और कर्म रूप तीनों पाशों से बद्ध सम्पूर्ण प्राणियों के पति, (कवि के पक्ष में —) पशु सदृश अज्ञ या मूर्खों का नेता। च अस्मि=हूँ। तव इव=तुम्हारी तरह। मम अपि=मेरा भी। अङ्गम्=अङ्ग। गुरुरुग् ज्वलितम्= (शिव के पक्ष में)—गुर्वी रुक् शोभा यस्य तादृशम् तथा ज्वलितम् दीप्तम्—विशाल कान्ति से दीप्त, [कवि के पक्ष में—) गुर्वी चासौ रुग्जन्मजरादिव्याधिस्तया रुजा ज्वलितम्—महान व्याधि से दग्ध। (है)। कष्टम् तु (एतत्)= कष्ट तो यह है। त्वम् शिवः (असि)=तुम शिव हो। विधिक्षतः अहम् तु अशिवः (अस्मि)=हत भागी मैं तो अशिव हूँ।

श्लोकार्थः—हे विभो ! जैसे आपके कण्ठ में विषम विष का (हालाहल का) निवास है, वैसे ही मेरे कण्ठ में मात्सर्य रूपी विषम विष रहता है। जैसे आप भूतेश्वर (सम्पूर्ण प्राणियों के ईश्वर) और पशुपति (अणु, माया और

कर्मरूप तीनों पाशों से बद्ध समस्त प्राणियों के पति) हो वैसे ही मैं भी भूतेश्वर (महान उग्र-क्रूर लोगों का अग्रणी) और पशुपति (पशु सदृश अज्ञ, या मूर्खों का नेता) हूँ। जैसे आपका अङ्ग गुरुरुक्-ज्वलित (विशाल कान्ति से दीप्त) है, वैसे ही मेरा भी अङ्ग गुरु रुक् ज्वलित (महान् व्याधि से दग्ध) है, आप और मुझमें समानता होने पर भी यह कष्ट है कि आप तो शिव हैं, और मैं अभागा अशिव हूँ।

विशेषः—यहाँ श्लिष्ट मालोपमा व्यतिरेक तथा सभङ्ग-श्लेष है।

स्वर्भानुगीर्णमिव पूर्णशशाङ्कबिम्बं
बालाङ्गनाङ्गमिव दारुणरुग्विरुग्णम्।
श्रीखण्डचन्दनमिवाजगरोपगूढं
व्यूढं नृपस्य पिशुनैरिव पादमूलम् ॥९८॥

हालाहलाक्तमिव दुग्धमहाब्धिनीरं
तीरं महामकररुद्धमिव द्युसिन्धोः।
दारिद्र्यदग्धमिव साधुगृहस्थवृत्तं
चित्तं समत्सरमिव श्रुतविश्रुतस्य ॥९९॥

विद्याविहीनमिव सत्कुलजस्य रूपं
निर्दानभोगमिव कापुरुषस्य वित्तम्।
मानुष्यमुज्ज्वलकुलश्रुतशीलशुद्धं
जातं विपद्विधुरितं मम शोचनीयम् ॥१००॥

अन्वयः—स्वर्भानुगीर्णम् पूर्णशशाङ्कबिम्बम् इव, दारुणरुग्विरुग्णम् बालाङ्गनाङ्गम् इव, अजगरोपगूढम् श्रीखण्डचन्दनम् इव पिशुनैः व्यूढम् नृपस्य पादमूलम् इव, हालाहलाक्तम् दुग्धमहाब्धिनीरम् इव, महामकररुद्धम् द्युसिन्धोः तीरम् इव, दारिद्र्यदग्धम् साधुगृहस्थवृत्तम् इव, श्रुतविश्रुतस्य समत्सरम् चित्तम् इव, सत्कुलजस्य विद्याविहीनम् रूपम् इव, कापुरुषस्य निर्दानभोगम् वित्तम् इव, उज्ज्वलकुलश्रुतशीलशुद्धम् (अपि इदम्) मम मानुष्यम् विपद्विधुरितम् [सत्] शोचनीयम् जातम्।

पदार्थः—स्वर्भानुगीर्णम्=स्वर्भानु-राहु (—"तमस्तु राहुः स्वर्भानुः"—इत्यमरः) के द्वारा ग्रस्त। पूर्णशशाङ्कम्=पूर्णमासी के चन्द्रमा। इव=की तरह। दारुणरुग्विरुग्णम्=दारुणया रुजा महारोगेण रुग्णम—महारोग से रुग्ण। बालाङ्गनाङ्गम्=षोडशी के अङ्ग। इव=की तरह। अजगरोपगूढम्='अजगर' नामक विशाल सर्प के द्वारा परिवेष्टित। श्रीखण्डचन्दनम्='श्रीखण्ड' चन्दन। इव=की तरह। पिशुनैः=दुष्टों के द्वारा। व्यूढम्=परिवृत, व्याप्त। नृपस्य=राजा के। पादमूलम्=राजदरबार। इव=के समान! हालाहलाक्तम्=हालाहल विष से मिश्रित। दुग्धमहानीरम्=क्षीरसागर। इव=के समान। महामकररुद्धम्=बड़े-बड़े मकरों से अवरुद्ध। द्युसिन्धोः=गंगा के। तीरम् इव=तट के समान। दारिद्र्यदग्धम्=दरिद्रता से दाहयुक्त। साधुगृहस्थवृत्तम् इव=सद्गृहस्थ के चरित्र के समान। श्रुतविश्रुतस्य=श्रुतेन शास्त्रेण पठितेन विश्रुतस्य प्रसिद्धस्य—विद्वान् पुरुष के। समत्सरम् चित्तम इव=ईर्ष्यायुक्त चित्त के समान। सत्कुलजस्य=कुलीन पुरुष की। विद्याविहीनम्=विद्या से रहित। रूपमिव=सुन्दरता के समान। कापुरुषस्य=कृपण पुरुष के। निदानभोगम्=दान और भोग से रहित। वित्तम् इव=धन के समान। उज्ज्वलकुलश्रुतशीलशुद्धम्=उज्ज्वलेन निर्मलेन कुलेन श्रुतेन शास्त्रेण शीलेन आचरणेन शुद्धं विमलमपि—निर्मल कुल विद्या शील आदि सद्गुणों से विशुद्ध। [भी यह] मम=मेरा। मानुष्यम्=मनुष्य जन्म। विपद्विधुरितम्=विपदा दारिद्र्येण विधुरितं कातरीकृतम्—दरिद्रता से विकल किया गया होकर। शोचनीयम् जातम्=शोचनीय हो गया है।

श्लोकार्थः—हे प्रभो! राहु से ग्रस्त पूर्ण चन्द्रबिम्ब के समान, दारुण व्याधि (महारोग) से क्षीण षोडशी के अङ्ग के समान अजगरों से परिवेष्टित श्रीखण्ड चन्दन के समान स्वार्थी खलों से परिवृत धार्मिक राजाओं के राजदरबार के समान, हालाहल विष से व्याप्त क्षीर सागर के नीर के समान, महाभयङ्कर मगरों से अवरुद्ध गङ्गातट के समान, दरिद्रता से निपीडित सद्गृहस्थ के चरित्र के समान, विद्वान् पुरुष के ईर्ष्या युक्त चित्त के समान, विद्याविहीन कुलीन पुरुष की सुन्दरता के समान, एवं दान और भोग से रहित कृपण की सम्पत्ति के समान, निर्मल कुल विद्या शील आदि सद्गुणों से विशुद्ध भी मेरा

यह मनुष्य जन्म दारिद्रय आदि विपत्तियों से विकल होकर सर्वथा शोचनीय हो गया है।

विशेषः—यहाँ प्रति श्लोक में श्लेषसङ्कीर्णं मालोपमा तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

पश्चात्पुरः प्रतिदिशं च विमृश्य पश्यन्
क्रूरं कृतान्तहतकं फणिपाशपाणिम्।
भूमौ पतामि कृपणं प्रलपामि पाद—
पीठे लुठामि शठवत्कठिनोऽसि कस्मात् ॥१०१॥

अन्वयः—[हे विभो !] पश्चात् पुरः प्रतिदिशम् च विमृश्य (आगतम्) क्रूरम् फणिपाशपाणिम् कृतान्तहतकम् पश्यन् (अहम्) भूमौ पतामि, कृपणम् प्रलपामि, (तव) पादपीठे लुठामि। त्वम् शठवत् कठिनः कस्माद् असि ?

पदार्थः—[हे विभो !] पश्चात्=पीछे। पुरा=आगे। प्रतिदिशम्=प्रत्येक दिशाओं में। च=और। विमृश्य=विचार कर। (आगतम्=आये हुए)। क्रूरम्=अत्यन्त क्रूर आशय वाले। फणिपाशपाणिम्=नागपाश को हाथ में लिए हुये। कृतान्तहतकम्=दुष्ट यम को। पश्यन्=देखता हुआ (अहम्=मैं) भूमौ=भूमि पर। पतामि=गिरता हूँ। कृपणम्=दीनतापूर्वक। प्रलपामि=विलाप करता हूँ ! (तव=तुम्हारे) पादपीठे=(तुम्हारी प्रतिमा के) पाद पीठ पर। लुठामि=लोटता हूँ। त्वम्=तुम। शठवत्=शठ (धूर्त) की तरह। कठिनः=कठोर। कस्मात् असि=क्यों हो ?

श्लोकार्थः—हे विभो ! क्रूर और नागपाश को हाथ में लिए यमराज को आगे पीछे और प्रत्येक दिशाओं में (सभी ओर से विचार कर आया हुआ) देख रहा मैं धरती पर गिरता हूँ; दीन विलाप करता हूँ; आपके पादपीठ पर लोटता हूँ। आप निरे शठ (धूर्त) की तरह कठोर क्यों हो ?

विशेषः—यहाँ छेकानुप्रास वृत्त्यनुप्रास तथा मालोपमा है।

आः किं न रक्षसि नयत्ययमन्तको मां
हेलावलेपसमयः किमयं महेश !

मा नाम भूत्करुणया हृदयस्य पीडा
व्रीडापि नास्ति शरणागतमुज्झतस्ते ।।१०२।।

अन्वयः—महेश ! अयम् अन्तकः (हठात्) माम् नयति, आः (माम्) किं न रक्षसि ? किम् अयम् हेलावलेपसमयः ? नाम करुणया (तव) हृदयस्य पीडा मा भूत् (परन्तु) शरणागतम् उज्झतः ते व्रीडा अपि नास्ति ?

पदार्थः—महेश ! अयम्=यह । अन्तकः=यमराज (हठात्) माम्=मुझे । नयति=ले जा रहा है । आः=आह (कोपवाचक अव्यय) (मुझे) किं न रक्षसि=क्या नहीं रक्षा करोगे ? किम्=क्या । अयम्=यह । हेलावलेपसमयः= हेला (क्रीडा) के द्वारा अवलेप (उपेक्षा) का समय है ? नाम=यदि । करुणया=करुणा के कारण (तव=तुम्हारे) हृदयस्य=हृदय की । पीड़ा=पीड़ा । मा भूत्=न हो । (परन्तु) शरणागतम्=शरण में आये हुए को । उज्झतः= त्याग करते । ते=तुम्हारी । व्रीडा=लज्जा । अपि=भी । नास्ति=नहीं है ?

श्लोकार्थः—निमेषमात्र में ही तीनों लोकों का उद्धार करने वाले हे परमेश्वर ! यह यमराज मुझे हठात् ले जा रहा है । आह ! आप मेरी रक्षा क्यों नहीं करते ? प्रभो ! क्या वह खिलवाड़ से उपेक्षा करने का समय है ? मेरी ऐसी दशा देख कर आपके हृदय में यदि करुणा वश पीड़ा न हो, तो क्या शरणागत का त्याग करते आपको लज्जा भी नहीं आती ?

विशेषः—यहाँ द्विरावृत्त छेकानुप्रास है ।

अज्ञोऽसि किं किमबलोऽसि किमाकुलोऽसि
व्यग्रोऽसि किं किमघृणोऽसि किमक्षमोऽसि ।
निद्रालसः किमसि किं मदघूर्णितोऽसि
क्रन्दन्तमन्तकभयार्तमुपेक्षसे यत् ।।१०३।।

अन्वयः—(प्रभो) किम् अज्ञः असि ? किम् अबलः असि ? किम् आकुलः असि ? किं व्यग्रोऽसि ? किम् अघृणः असि ? किम् अक्षमः असि ? किं निद्रालसः असि ? किम् (वा) मदघूर्णितः असि ? यत् क्रन्दन्तम् (अपि माम्) अन्तक-भयार्तम् उपेक्षसे ।

पदार्थः—(प्रभो !) किम्=क्या (आप परपीडा से) अज्ञः असि ?= अनभिज्ञ हो। किमबलोऽसि=क्या निर्बल (रक्षा करने में असमर्थ) हो ? किमा-कुलोऽसि=क्या व्याकुल हो। किं व्यग्रोऽसि=क्या किसी महान् कार्य में व्यग्र हो ? किम् अघृणः असि=या अत्यन्त ही निर्दय हो ? किम् अक्षमः असि=क्या सामर्थ्य से हीन हो। किं निद्रालसः असि=क्या निद्रा से अलसाये हो। (अथवा) किम् मदघूर्णितः असि=क्या मद (कालकूट विष) से उन्मत्त हो ? यत्=जो क्रन्दन्तम्=बिलाप कर रहे। (अपि माम्=भी मुझे) अन्तकभयार्तम्=यमराज के भय से पीड़ित को। उपेक्षसे=उपेक्षित कर रहे हो ?

श्लोकार्थः—हे प्रभो ! क्या आप पर पीड़ा से अनभिज्ञ हो ? या निर्बल (ऐसे सङ्कट में पड़े शरणागत की रक्षा करने में असमर्थ) हो ? अथवा क्या व्याकुल हो, या किसी महान कार्य में व्यग्र हो ? अथवा क्या अत्यन्त ही निर्दय हो ? किं वा सामर्थ्य से हीन हो ? या अनन्तानन्त ब्रह्माण्डों के उत्पादन, पालन और प्रलय रूप कार्य से श्रान्त होकर) निद्रा से अलसाये तो नहीं हो ? अथवा (हालाहल रूपी मदिरा के) मद से घूर्णित (मदोन्मत्त) हो ? जो इस प्रकार विलाप कर रहे यमराज के भय से आर्त मेरी उपेक्षा कर रहे हो ?

विशेषः—यहाँ वाक्यार्थगत काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

> **द्वेषः किमेष कृपणे किमुताक्षमेयं**
> **निस्त्रिंशता किमथवा किमशक्तिरेव।**
> **हुङ्कारमात्रकनिराकरणीयगर्वे**
> **सर्वेश कालहतके यदियत्युपेक्षा ॥१०४॥**

अन्वयः—अयि सर्वेश, हुङ्कारमात्रकनिराकरणीयगर्वे कालहतके (अपि) यत् इयती उपेक्षा (भवति), एषः (मयि) कृपणे द्वेषः किम् ? उत इयम् अक्षमा किम् ? निस्त्रंशता किम् ? अथवा अशक्तिः एव किम् ?

पदार्थः—अयि सर्वेश ! = विश्वनाथ ! हुङ्कारमात्रकनिराकरणीयगर्वे= हुङ्कारमात्रेण निराकरणीयो गर्वः यस्य—हुङ्कार मात्र से ही जिसके अहङ्कार का निराकरण हो सकता है, ऐसे। कालहतके=दुष्ट काल (भी)। यत् इयती=जो

इतनी । उपेक्षा भवति । एषः=यह (मुझ) कृपणे=दीन पर । द्वेषः किम् ?=द्वेष है क्या ? उत इयम् अक्षमा किम् ?=अथवा यह अक्षमा है क्या ? अथवा अशक्तिः एव किम्=या यह आप की सामर्थ्य हीनता है ?

श्लोकार्थः—हे विश्वनाथ ! केवल एक हुङ्कार मात्र से ही जिसके अहङ्कार का निराकरण हो सकता है ऐसे दुष्ट काल की भी जो आप इतनी अधिक उपेक्षा कर रहे हो, क्या यह मुझ दीन पर आपका द्वेष है ? अथवा क्या यह आपकी अशक्ति है ? किं वा यह निर्दयता है ? या यह आपकी सामर्थ्य हीनता है ?

विशेषः—इस पद्य में द्विरावृत्त छेकानुप्रास है ।

इत्यादि दूढ्य इव निष्ठुरपुष्टभाषी
यत्किञ्चन ग्रहगृहीत इवास्तशङ्कः ।
आर्त्या मुहुर्मुहुरयुक्तमपि ब्रवीमि
तत्रापि निष्कृप भिनत्सि न मौनमुद्राम् ॥१०५॥

अन्वयः—दूढ्यः इव निष्ठुरपुष्टभाषी ग्रहगृहीतः इव अस्तशङ्कः [अहम्] आर्त्या मुहुर्मुहुः अयुक्तम् अपि इत्यादि यत्किञ्चन ब्रवीमि, तत्रापि निष्कृप । [त्वम्] मौनमुद्राम् न भिनत्सि ।

पदार्थः—दूढ्यः=दुष्ट अन्तःकरण वाला पुरुष—"दुष्टाशयस्तु दूढ्यः स्यात्"—हलायुध । इव=के समान । निष्ठुरपुष्टभाषी=निष्ठुरं क्रूरं पुष्टं च भाषते इति निष्ठुरपुष्टभाषी—अत्यन्त कठोर भाषण करने वाला । ग्रहगृहीतः =ग्रहो भूतप्रेतादिस्तेन गृहीतः=पिशाचग्रस्त । इव=के समान । अस्तशङ्कः= निःशङ्क । [मैं] आर्त्या=पीड़ा से । मुहुर्मुहुः=बार बार । अयुक्तम्=अनुचित । अपि=भी । इत्यादि ! यत्किञ्चन=जो कुछ भी । ब्रवीमि=बोलता हूँ, तत्रापि= उस पर भी । निष्कृप=हे निर्दय । [तुम] मौनमुद्राम्=मौनमुद्रा को । न भिनत्सि=नहीं तोड़ते ।

श्लोकार्थः—दुष्ट अन्तःकरण वाले खल के समान अत्यन्त कठोर भाषण करने वाला मैं पिशाच ग्रस्त पुरुष के समान निःशङ्क होकर आर्ति से पीड़ित

होने के कारण बार बार जो पूर्वोक्त प्रकार के अयुक्त वचन कहता हूं, उस पर भी हे निर्दय ! आप अपनी मौनमुद्रा को नहीं तोड़ते ।

विशेष:—इस पद्य में उत्प्रेक्षा परिकर तथा छेकानुप्रास अलङ्कार है ।

भीते भवार्तिविधुरे चरणाग्रलग्ने
भग्नेप्सिते गतिमपश्यति काञ्चिदन्याम् ।
कस्मादनागसि मनागसि विश्वसाक्षि—
न्दाक्षिण्यदिग्धहृदयोऽपि पराङ्मुखत्वम् ॥१०६॥

अन्वय:—विश्वसाक्षिन् भीते भवार्तिविधुरे चरणाग्रलग्ने, भग्नेप्सिते काञ्चिद् अन्याम् गतिम् अपश्यति अनागसि [मयि] दाक्षिण्यदिग्धहृदय: अपि त्वम् मनाक् (अपि) पराङ्मुख: कस्मात् असि ?

पदार्थ:—विश्वसाक्षिन्=समस्त विश्व को एक दृष्टि से देखने वाले हे भगवन् ! भीते=भयभीत । भवार्तिविधुरे=संसार में होने वाली अनेक व्याधियों से व्याकुल । चरणाग्रलग्ने=चरणारविन्द के अग्रभाग पर लोटते हुये । भग्नेप्सिते =भग्न मनोरथ । (और) । काञ्चित् अन्याम् (आपको छोड़कर) किसी अन्य । गतिम्=गति को । अपश्यति=न देखते हुये । अनागसि=निरपराध । मयि=मेरे ऊपर । दाक्षिण्यदिग्धहृदय:=दाक्षिण्येन लक्षणया स्नेहेन दिग्धं व्याप्तम् हृदयं यस्य--स्नेहपूर्ण हृदय होकर । अपि=भी । त्वम्=तुम । मनाक्=थोड़ा (भी) पराङ्मुख:=विमुख । कस्मात् असि=क्यों हो ?

श्लोकार्थ:—समस्त विश्व को एक दृष्टि से देखने वाले हे भगवन् ! अनेक उपद्रवों से भयभीत, भवसागर में उत्पन्न घोर व्याधियों से व्याकुल, आपके चरणारविन्दों पर लोटते हुये, भग्न मनोरथ और आपके अतिरिक्त अन्य कोई गति न देख रहे मुझ निरपराध के प्रति स्नेह पूर्ण हृदय होकर भी आप तनिक भी विमुख क्यों हैं ?

विशेष:--यहाँ यमक तथा छेकानुप्रास है ।

स्वामिन्निसर्गमलिन: कुटिलश्चलोऽह—
मेतादृगेव च रिपुर्मम मृत्युपाश: ।

भ्रूपल्लवस्तव तथाविध एव तस्य
शान्त्यै विषे हि विषमे विषमेव पथ्यम् ॥१०७॥

अन्वयः—स्वामिन् अहम् निसर्गमलिनः कुटिलः चलः (च अस्मि), मम रिपुः मृत्युपाशः च एतादृग् एव (अस्ति)। तथाविध एव (निसर्गमलिन कुटिलः चलः च) तव भ्रूपल्लवः तस्य शान्त्यै (क्षमः)। हि विषमे विषे विषम एव पथ्यम् (भवति)।

पदार्थः—स्वामिन्=हे नाथ। अहम्=मैं। निसर्गमलिनः=स्वभाव से ही मलिन। कुटिलः=टेढ़ा। चलः=चञ्चल (अन्तकरण वाला) (हूँ) मम रिपुः=मेरा शत्रु। मृत्युपाशः=मृत्युपाश (नागपाश)। च=भी। एतादृग्=ऐसा। एव (अस्ति)=ही है। तथाविधः एव=वैसा ही (निसर्ग मलिन कुटिल और चल) तव=तुम्हारा। भ्रूपल्लवः=भ्रुकुठि पल्लव (कोंपल)। तस्य=उसकी। शान्त्यै=शान्ति (शमन) के लिये। (क्षमः=समर्थ है) हि=क्यों कि। विषमे विषे=अत्यन्त उग्र विष में। विषम् एव=विष ही। पथ्यम् (भवति)=पथ्य होता है।

श्लोकार्थः—नाथ ! मैं स्वभाव से ही मलिन अन्तः करण वाला (अत एव) अत्यन्त कुटिल एवं चञ्चल प्रकृति हूँ और मेरा शत्रु वह काल का नागपाश भी ऐसा ही अर्थात् स्वभावतः मलिन (काला) कुटिल और चञ्चल है। (अतः हे भगवन् !) मेरे उस शत्रु की शान्ति (उसे निश्चेष्ट करने) के लिये ठीक वैसा ही अर्थात् स्वभावतः मलिन — रोएँ वाला, धनुष के आकार के समान कुटिल और चञ्चल आपका भ्रुकुठि-पल्लव ही समर्थ हो सकता है। कारण (वृद्ध लोगों का कहना है कि) अत्यन्त उग्र विष में विष ही पथ्यकारक होता है।

विशेषः—इस पद्य में अर्थान्तरन्यास रूपक यमक तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

किं कार्यमेभिरनिशं पुनरुक्तशुक्त—
रुद्वेगकारिभिरलब्धफलैः प्रलापैः।

एवं विदन्नपि मुहुर्मुखरं विरौमि
पश्यामि न त्वदितरं हि परं शरण्यम् ॥१०८॥

अन्वयः—(हे विभो !) पुनरुक्तशुक्तैः उद्वेगकारिभिः अलब्धफलैः एभिः प्रलापैः अनिशम् किम् कार्यम् ? एवम् विदन् अपि अहम् मुहुः मुखरम् विरौमि, हि त्वदितरम् परम् शरण्यम् न पश्यामि।

पदार्थः (हे विभो ।) पुनरुक्तशुक्तैः=पुनरुक्ताः पुनः पुनः सगद्गद-मुक्ता अत एव शुक्ताः पर्युषिताः बार बार कहे हुए होने के कारण पर्युषित (बासी) ('शुक्तः पर्युषितौदनः' इत्यायुर्वेदे, 'शुक्तमन्नं न भुञ्जीत सद्यो दोषकरं हि तत्' इति च) उद्वेगकारिभिः=(मन में) उद्वेग करने वाले। अलब्धफलैः=निष्फल। एभिः=इन। प्रलापैः=क्रन्दनों से। अनिशम्=सदा। किं कार्यम्=क्या कार्य है ? एवम्=इस प्रकार। विदन्=जानता हुआ। अपि=भी। अहम्=मैं। मुहुः=बार बार। मुखरं विरौमि=घोर विलाप कर रहा हूँ। हि=क्योंकि। त्वदितरम्=तुमसे अन्य। परम्=दूसरा। शरण्यम्=शरणागत के रक्षक को। न पश्यामि=नहीं देखता हूँ।

श्लोकार्थः – हे प्रभो ! गद्गद होकर बार बार कहे हुए [अतएव] बासी ओदन के तुल्य और मन में उद्वेग उत्पन्न करने वाले इन निरर्थक प्रलापों से क्या लाभ, अर्थात् कुछ भी नहीं। ऐसा जानता हुआ भी मैं बारम्बार यह घोर विलाप कर रहा हूँ, क्यों कि मुझे आपके अतिरिक्त कोई अन्य शरण्य (रक्षक) दिखलाई नहीं पड़ता।

विशेषः—इस पद्य में परिकर वृत्त्यनुप्रास तथा छेकानुप्रास है।

त्वं चेत्प्रसादसुमुखः प्रणयोक्तिभिः किं
त्वं चेदनादरपरः प्रणयोक्तिभिः किम्।
भाग्योदये सति वृथैव गुणेषु यत्न—
स्तस्मिन्नसत्यपि वृथैव गुणेषु यत्नः ॥१०९॥

अन्वयः—[हे नाथ !] त्वम् प्रसादसुमुखः चेत् [तर्हि] प्रणयोक्तिभिः किम् ? त्वम् अनादरपरः चेत् [तर्हि] प्रणयोक्तिभिः किम् ? भाग्योदये सति गुणेषु यत्नः वृथैव, तस्मिन् असति अपि गुणेषु यत्नः वृथैव।

पदार्थः—[हे नाथ !] त्वम्=तुम । प्रसादसुमुखः=प्रसाद (अनुग्रह) से सुप्रसन्न । चेत्=यदि । [तो] प्रणयोक्तिभिः=प्रिय वचनों (स्तुतियों) के द्वारा । किम्=क्या ? त्वम्=तुम । अनादरपरः=मुखप्रत्यावर्तनेनानादरपरः–विमुख । चेत्=यदि । [तो] प्रणयोक्तिभिः किम् ? भाग्योदये सति=भाग्योदय हो जाने पर । गुणेषु=विद्वत्ता आदि गुणों में । यत्नः=प्रयत्न करना । वृथैव= निरर्थक ही है । तस्मिन् असति=उसके (भाग्योदय के) न होने पर । अपि= भी । गुणेषु=गुणों में । यत्नः=प्रयत्न । वृथैव=निरर्थक ही है ।

श्लोकार्थः—हे नाथ ! यदि आप अनुग्रह कर स्वयं ही सुमुख (सुप्रसन्न) हों तो फिर [आपको प्रसन्न करने के लिए] प्रियवचनों या स्तुतियों की क्या आवश्यकता है ? और यदि आप विमुख हों तो भी प्रणयोक्तियों से क्या लाभ ? क्योंकि मनुष्य का भाग्य उदित होने पर फिर विद्वत्ता आदि गुणों में यत्न करना वृथा ही है, और यदि भाग्योदय न हो तो भी गुणों के लिए प्रयत्न करना वृथा है ।

विशेषः—यहाँ अर्थान्तर सङ्क्रमित ध्वनि है ।

जानन्नपीति विरमामि न यत्प्रलापा—
दार्तेर्महेश महिमैष दृशस्तवैव ।
या रात्रिमेव दिवसं तिमिरं प्रकाश—
मग्निं हिमं गरलमप्यमृतं करोति ॥११०॥

अन्वयः—महेश ! इति जानन् अपि [अहम्] यत् प्रलापात् न विरमामि एषः तव दृशः [इव] [मम] आर्तेः एव महिमा । या रात्रिम् एव दिवसम् करोति, तिमिरम् [अपि] प्रकाशम् [करोति] अग्निम् [अपि] हिमम् [करोति] गरलम् अपि अमृतम् [करोति] ।

पदार्थः—हे महेश ! इति जानन्=इस प्रकार जानता हुआ । अपि (अहम्) =भी मैं । यत्=जो । प्रलापात्=(निरर्थक) प्रलाप से । न विरमामि=विरत नहीं होता हूँ । एषः=यह । तव=तुम्हारी । दृशः=(अनुग्रह) दृष्टि । इव=की तरह । (मेरी) आर्तेः=विपत्ति की । एव=ही । महिमा=महिमा है । या=जो ।

रात्रिम्=रात्रि को । एव=ही । दिवसम् करोति=दिन करता है । तिमिरम् अपि=अन्धकार को भी । प्रकाशम् [करोति]=प्रकाश कर देता है । अग्निम्=अग्नि को (भी) हिमम्=बर्फ (अति शीतल) । करोति=कर देता है । गरलम् अपि=विष को भी । अमृतम् (करोति)=अमृत कर देता है ।

श्लोकार्थः—हे परमेश्वर ! यह सब जानता हुआ भी मैं जो इस निरर्थक प्रलाप से विरत नहीं होता, वह आपकी अनुग्रह दृष्टि के समान मेरी विपत्ति की महिमा है । क्यों कि यह विपत्ति (आपकी अनुग्रह दृष्टि के समान) रात्रि को ही दिन, अन्धकार को ही प्रकाश, अग्नि को भी हिम (अति शीतल) और विष को भी अमृत बना देती है । अर्थात् जैसे आपकी अनुग्रह-दृष्टि अतीव असम्भव कार्यों को भी सम्भव कर देती है, वैसे ही यह आर्ति असम्भव को सम्भव कर डालती है । क्यों कि आर्तिपीड़ित प्राणी तीव्र दुःख की वेदना में रात्रि को भी दिन समझ बैठता है, अन्धकार को भी प्रकाश समझ लेता है, अग्नि को शीतल और विष को मधुर रसायन समझ बैठता है ।

विशेषः—प्रस्तुत श्लोक में अर्थान्तर सङ्क्रमित ध्वनि तथा छेकानुप्रास है ।

आर्तिः श्रुतैव कृपणात्करुणां तवान्त—
रुत्पादयत्यनिशमग्निशिखां शमीव ।
जातैव निर्दहति तामियमित्यमुत्र
किं ब्रूमहे महदनङ्कुशमीश्वरस्य ॥१११॥

अन्वयः—(प्रभो !) कृपणात् श्रुता एव आर्तिः तव अन्तः शमी अग्निशिखाम् इव अनिशम् करुणाम् उत्पादयति । इयम् जाता एव ताम् निर्दहति । इति अमुत्र ईश्वरस्य महत् अनङ्कुशम् किम् ब्रूमहे ?

पदार्थः—[प्रभो !] कृपणात्=दीन जन से । श्रुता=सुनी गयी । एव=ही । आर्तिः=विपत्ति (पीड़ा) । तव=तुम्हारे । अन्तः=अन्तर में । शमी=शमी वृक्ष की शाखा । अग्निशिखाम्=अग्नि-ज्वाला को । इव=के समान । करुणाम्=करुणा को । उत्पादयति=उत्पन्न करती है । इयम्=यह । जाता एव=उत्पन्न हुई ही । ताम्=उस (आर्ति) को । निर्दहति=भस्म कर देती है । इति=इस प्रकार ।

अमुत्र=इस विषय में। ईश्वरस्य=ईश्वर की। महत् अनङ्कुशम्=महती स्वतन्त्रता को। किम् ब्रूमहे=क्या कहें ?

श्लोकार्थः—हे प्रभो ! जैसे शमीवृक्ष की शाखा अपने अन्दर सदैव अग्नि ज्वाला को उत्पन्न करती है, वह अग्नि उत्पन्न होते ही उस (शमी वृक्ष की शाखा) को ही भस्म कर डालती है। ठीक ऐसे ही दीन जनों की विपत्ति केवल सुनने मात्र से ही आपके हृदय में सदैव करुणा उत्पन्न करती है और वह करुणा उत्पन्न होते ही (जिससे वह उत्पन्न होती है) उसी दीन जनों की विपत्ति को तत्क्षण भस्म कर देती है। इसलिए इस विषय में आप सर्व शक्ति सम्पन्न सर्वस्वतन्त्र परमेश्वर की इस अनिवार्य ऐश्वर्य शक्ति (की महिमा) को हम क्या कहें ?

विशेषः—इस पद्य में पूर्णोपमा तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

यन्नाम पामरजनोचितमत्र किञ्चि—
दौचित्यमुक्तमसमञ्जसमभ्यधायि।
तत्रापि भर्तुरुचिता रुचिरीश्वराणां
चेतश्चमत्कृतिकरी कपिझम्पिकापि ॥११२॥

अन्वयः—(हे विभो !) अत्र यत् किञ्चित् पामरजनोचितम् औचित्यमुक्तम् असमञ्जसम् अभ्यधायि नाम, तत्रापि भर्तुः रुचिः उचिता (एव)। कपिझम्पिका अपि ईश्वराणाम् चेतश्चमत्कृतिकरी एव (भवति)।

पदार्थः—(हे विभो !) अत्र=इस (स्तुति कुसुमाञ्जलि) में। यत् किञ्चित्=जो कुछ। पामरजनोचितम्=पामर (पापात्मा) जनों के लिए उचित। औचित्यमुक्तम्=परमार्थ से रहित। असमञ्जसम्=अत्यन्त अयुक्त। अभ्यधायि=कहा है। तत्रापि=उस में भी। भर्तुः=स्वामी की। रुचिः=रुचि। उचिता (एव) =उचित ही है। कपिझम्पिका=बन्दरों की झम्पिका (उत्प्लुति) अपि=भी। ईश्वराणाम्=प्रभुओं के। चेतश्चमत्कृतिकरी=चित्त को चमत्कृत करने वाली (होती ही है)।

श्लोकार्थः—हे विभो ! मैंने इस स्तुति कुसुमाञ्जलि में पामर जनों के समान परमार्थ से हीन और अत्यन्त अयुक्त जो कुछ भी कहा है, उसे भी सुनने

में सर्वस्वतन्त्र आप प्रभु की रुचि होना उचित ही है। कारण (लोक में भी यह प्रायः देखा जाता है कि) बन्दरों का इधर उधर उछलना कूदना भी कभी कभी समर्थ लोगों के चित्त में चमत्कार पैदा करता ही है।

विशेषः—इस पद्य में दृष्टान्त तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

चौरैर्गृहीतमपि दष्टमपि द्विजिह्वै—
र्ग्रस्तं ग्रहैरपि निरुद्धमपि द्विषद्भिः।
व्याघ्रैरुपद्रुतमपि द्रुतमाक्षिपद्भि—
रन्विष्टमप्यवनिभृत्पुरुषैः सरोषैः ॥११३॥

भूताभिभूतमपि सिन्धुजलेऽपि मग्नं
भग्नं रणेऽपि पतितं दवपावकेऽपि।
किं भूयसा यमभटैरपि कृष्यमाणं
कस्त्रातुमर्हति महेश्वरमन्तरेण ॥११४॥

अन्वयः—चौरैः गृहीतम् अपि, द्विजिह्वैः दष्टम् अपि, ग्रहैः ग्रस्तम् अपि, द्विषद्भिः निरुद्धम् अपि, द्रुतम् आक्षिपद्भिः व्याघ्रैः उपद्रुतम् अपि, रणे सरोषैः अवनिभृत्पुरुषैः अन्विष्टम् अपि, भूताभिभूतम् अपि, सिन्धुजले मग्नम् अपि, रणे भग्नम् अपि, दवपावके पतितम् अपि, भूयसा किम् ? यमभटैः अपि कृष्यमाणम् त्रातुम् (केवलम्) महेश्वरम् अन्तरेण (अपरः) कः अर्हति ?

पदार्थः—चौरैः गृहीतम् अपि=चोरों के द्वारा पकड़े हुए भी। द्विजिह्वैः दष्टम् अपि=सर्पों से काटे हुए भी। ग्रहैः ग्रस्तम् अपि=(पिशाच आदि) ग्रहों से ग्रस्त किये हुए भी। द्विषद्भिः=शत्रुओं के द्वारा। निरुद्धम् अपि=पकड़े हुए भी। द्रुतम् आक्षिपद्भिः=शीघ्रतापूर्वक झपटते हुए। व्याघ्रैः उपद्रुतम्=व्याघ्रों से पकड़े हुए भी। सरोषैः=अतिक्रोधयुक्त। अवनिभृत्पुरुषैः=राजपुरुषों के द्वारा। अन्विष्टम्=खोजे गये। अपि=भी भूताभिभूतम् अपि=भूत प्रेतों के द्वारा डराये गये भी। सिन्धुजले=समुद्र के जल में। मग्नम् अपि=डूबे हुये भी। रणे=संग्राम में, भग्नम् अपि=पराजित भी। दवपावके=दावानल में। पातितम् अपि=गिराये गये भी। भूयसा किम् ?=अधिक (कहने) से क्या ? यमभटैः=यमदूतों के द्वारा। कृष्यमाणम्=खींचे जाते हुए, त्रातुम्=रक्षा करने के लिए। (केवल)

महेश्वरम=महेश्वर के । अन्तरेण=विना (दूसरा, । क॥ अर्हति=कौन समर्थ है ?।

श्लोकार्थः—चोरों से पकड़े हुए भी, सर्पों से काटे हुए भी, ब्रह्मराक्षस, बेताल आदि ग्रहों से ग्रस्त हुए भी, प्रबल शत्रुओं से रोके हुए भी, शीघ्र झपटते हुए व्याघ्रों से पकड़े हुए भी, अतिक्रोधयुक्त राजपुरुषों से खोजे हुए भी, भूतप्रेतादिकों से डराये हुए भी, समुद्र में डूबे हुए भी, संसार में पराजित किये हुए भी, दावानल में गिरे हुए भी, बहुत क्या कहें ? इन सबसे भी अधिक महा-भयदायी, नागपाश, दण्ड, मुद्‌गर आदि हाथ में लिए अति विकराल यमदूतों से खींचे जाते हुए भी आर्त प्राणी को बचाने के लिए एकमात्र करुणासागर भगवान् महेश्वर सदाशिव के अतिरिक्त दूसरा कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ।

विशेषः—यहाँ अनुप्रास और अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

तज्ज्ञो बतास्म्यभिलषन् सुखमक्षयं य—
द्दुःखैकधाम वपुरस्थिरमर्थयामि ।
यद्वा भवाब्धितरणाय पुराणमुग्र—
शीलं पुमांसमुडुपार्धधरं श्रयामि ॥११५॥

अन्वयः—बत ! [अहम्] तज्ज्ञः अस्मि ? यत् अक्षयम् सुखम् अभिलषन् दुःखैकधाम अस्थिरम् वपुः अर्थयामि । यद्वा भवाब्धितरणाय उग्रशीलम् उडुपार्धधरम् पुराणम् पुमांसम् श्रयामि ।

पदार्थः—बत ! = ओह (आश्चर्यसूचक अव्यय) [मैं] तज्ज्ञः=विद्वान् (मूर्ख) [यहाँ विपरीता जहल्लक्षणा है, इस तरह लक्षणा से व्यक्त निन्दा स्तुतिपर्यवसायिनी है, आगे के श्लोक में भी ऐसा ही समझना चाहिए] अस्मि=हूँ । यत्=जो । अक्षयम्=अखण्ड । सुखम्=सुख को । अभिलषन्=चाहता हुआ । दुःखैकधाम=केवल दुःखों से भरे हुए । अस्थिरम्=क्षणभंगुर । वपुः=शरीर को । अर्थयामि=माँग रहा हूँ । यद्वा=अथवा । भवाब्धितरणाय=भवाब्धि को तरने के लिए । उग्रशीलम्=अत्यन्त उग्रस्वभाव (रौद्र) । उडुपार्धधरम्=आधी नौका को धारण किये हुए अथवा अर्धचन्द्रधारी । पुराणम् पुमांसम्=अतीव वृद्ध अथवा भगवान् पुराण-पुरुषोत्तम को । श्रयामि=आश्रय लेता हूँ ।

श्लोकार्थः—इस श्लोक के वास्तविक अर्थ से अतिरिक्त एक अन्य अर्थ प्रतीयमान है उसे पहले लिखा जा रहा है—(प्रतीयमान)—ओह ! मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ अर्थात् मैं महामूर्ख हूँ, जो कि अखण्ड सुख को चाहता हुआ केवल दुःखों से भरे क्षण-भंगुर शरीर को माँगता हूँ, अथवा भवसागर को तरने के लिये अत्यन्त उग्रस्वभाव (रौद्र) उडुपार्धधर (आधी नौका को धारण किये हुए) पुराण पुरुष (अत्यन्त वृद्ध) की शरण लेता हूँ। (क्योंकि जिसका स्वभाव महान् उग्र है, जो आधी नाव रखता और अतीव वृद्ध है, वह मुझे कैसे भवसागर के पार लगा सकेगा ?

वास्तविक अर्थ—अहा। मैं बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ, जो उस अखण्ड सुख की अभिलाषा-पूर्ति के लिए ही इस बहुदुःखमय अस्थिर मनुष्य-देह की माँग कर रहा हूँ अथवा इस अपार भवसागर को पार करने के लिये उग्रशील (रुद्ररूप) उडुपार्धधर (अर्धचन्द्रधारी) भगवान् पुराणपुरुषोत्तम का आश्रय ले रहा हूँ।

विशेषः—इस पद्य में श्लेष, रूपक तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

दृङ्मार्गमात्रपतिताः सहसैव यस्य
पञ्चत्वमिन्दुरविहव्यभुजोऽप्यवापुः।
धीमानहं बत तमेव सदाशिवं य—
द्देवं श्रयामि शरणं मरणार्तिभीरुः ॥११६॥

अन्वयः—यस्य दृङ्मार्गमात्रपतिताः इन्दुरविहव्यभुजः अपि सहसा एव पञ्चत्वम् अवापुः, बत अहम् धीमान् यत् मरणार्तिभीरुः सन् तम् एव देवम् सदाशिवम् शरणम् श्रयामि।

पदार्थः—यस्य=जिसके। दृङ्मार्गमात्रपतिताः=दृशां त्रयाणां नेत्राणां मार्गे पतिताः। दृष्टि गोचर होते ही। इन्दुरविहव्यभुजः=चन्द्र सूर्य और अग्नि। अपि=भी। सहसा। एव=ही। पञ्चत्वम्=मृत्यु अथवा पञ्च पञ्च संख्यावत्त्व को। अवापुः=प्राप्त हुए। अहम्। धीमान्=बुद्धिमान् (विपरीत लक्षणा से—मूर्ख) हूँ। यत्=जो। मरणार्तिभीरुः=मृत्यु-पीड़ा से भयभीत। सन्=होता हुआ। तम् एव=उसी। देवम्=देव को, सदाशिवम्=सदा अशिव (पक्षान्तर में—सदा कल्याणकारी के)। शरणं श्रयामि=शरण का आश्रय लेता हूँ।

श्लोकार्थः—(प्रतीयमान)—ओह ! जिसके दृष्टिगोचर होते ही बड़े बड़े तेजस्वी चन्द्र सूर्य और अग्नि भी सहसा पञ्चत्व (मृत्यु) को प्राप्त हो गये। खेद है, मैं कितना मूर्ख हूँ, जो मृत्यु-पीड़ा से भयभीत होता हुआ उसी सदा अशिव (अकल्याणकारी) की शरण ले रहा हूँ।

वास्तविक अर्थ—अहा ! जिसके दृष्टिगोचर होने मात्र से चन्द्र सूर्य अग्नि [मूलतः एक एक होकर] भी पञ्चत्व [पञ्च पञ्च संख्यावत्त्व] को प्राप्त हो गये अर्थात् पाँच पाँच बन गये। मैं बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ, जो मरण पीड़ा से भयभीत होता हुआ उसी दयालु सदाशिव की शरण ग्रहण कर रहा हूँ।

विशेषः—इस पद्य में श्लेष तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

स्थाणुः स यत्र विभुरस्य वधूरपर्णा
सा यत्र यत्र च तयोस्तनयो विशाखः।
प्रज्ञावतामहमहो प्रवरः प्रवेष्टु-
मिच्छामि धाम तदभीष्टफलाप्तये तत् ॥११७॥

अन्वयः—यत्र सः स्थाणुः विभुः, यत्र अस्य वधूः सा अपर्णा, यत्र च तयोः तनयः विशाखः [अस्ति] यत् अहम् अभीष्टफलाप्तये तत् धाम प्रवेष्टुम् इच्छामि अहो अहम् प्रज्ञावताम् प्रवरः [अस्मि]।

पदार्थः—यत्र=जहाँ। सः=वह। स्थाणुः=ठूँठ, (पक्षान्तर में—प्रलय में भी अटल रहने वाले सदाशिव)। विभुः=सर्वव्यापक। यत्र=जहाँ। अस्य= इनकी। वधूः=प्रियतमा। सा=वह। अपर्णा=पत्र रहित लता [पक्षान्तर में— भगवती अपर्णा (पार्वती)]। यत्र च=और जहाँ। तयोः=उन दोनों का। तनयः= पुत्र। विशाखः=शाखा रहित (पक्षान्तर में)—विशाख (स्वामी कार्तिकेय) (हैं)। यत्=जो। अहम्=मैं। अभीष्टफलप्राप्तये=अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये। तत् धाम=उस स्थान में। प्रवेष्टुम् इच्छामि=प्रवेश करना चाहता हूँ। अहो अहम्= अहो मैं। प्रज्ञावताम्=विद्वानों का। प्रवरः=श्रेष्ठ। (हूँ)।

श्लोकार्थः—(प्रतीयमान) अहो जिस धाम में स्थाणु (ठूँठ) स्वामी हैं, जहाँ उनकी वधू अपर्णा (पत्र रहित लता) स्वामिनी है और जहाँ उन दोनों स्थाणु और अपर्णा का पुत्र विशाख (शाखा रहित) है, वहाँ मैं अपना मनोऽभीष्ट

फल पाने के लिये प्रवेश करना चाहता हूँ, अतः मैं बुद्धिमानों में बड़ा ही श्रेष्ठ हूँ। अर्थात् बड़ा ही मूर्ख हुँ। [क्यों कि जहाँ का मालिक ठूँठ, मालकिन बिना पत्तो वाली लता और कुमार शाखा रहित हो, वहाँ अभिलषित फल मिलने की आशा ही क्या हो सकती है ?]

वास्तविक अर्थ—अहा जिस धाम में भगवान् स्थाणु (प्रलय में भी अटल रहने वाले सदाशिव) स्वामी हैं, जहाँ उनकी प्रियतमा भगवती अपर्णा (पार्वती) हैं और जहाँ उनके प्रिय पुत्र विशाख (स्वामी कार्तिकेय) हैं, उस शिवलोक में मैं अपने मनोऽभिलषित फल की प्राप्ति के लिये प्रवेश करना चाहता हूँ। अतः मैं सचमुच विद्वानों में बड़ा ही श्रेष्ठ हूँ।

विशेषः—यहाँ शब्दश्लेष तथा अनुप्रास अलङ्कार है।

मार्जारशूकरश्टृगालकरालवक्त्र-
वेतालभूतशतसङ्कुलमीश्वरस्य।
भीष्मं निशाचरपिशाचरवैः प्रवेष्टु-
मिच्छामि धाम मतिमानतिमात्रभीरुः ॥११८॥

अन्वयः—अतिमात्रभीरुः [सन् अहम्] मार्जारशूकरश्टृगालकरालवक्त्र वेतालभूतशतसङ्कुलम् निशाचरपिशाचरवैः भीष्मम् ईश्वरस्य धाम प्रवेष्टुम् [यत्] इच्छामि [तत् अहम्] मतिमान् अस्मि।

पदार्थः—अतिमात्रभीरुः=अत्यन्त भीरु स्वभाव वाला [मैं], मार्जारशूकर-श्टृगालकरालवक्त्रवेतालभूतशतसङ्कुलम्=मार्जारो विडालः शूकरः श्टृगालः क्रोष्टा। द्वन्द्वात्परं श्रूयमाणः प्रत्येकमभिसम्बद्धचते। मार्जारवक्त्राणि सूकर-वक्त्राणि श्टृगालवक्त्राणि च वेतालभूतशतानि तैः सङ्कुलम्—विलाव शूकर और श्टृगालों के सदृश मुख वाले सैकड़ों वेताल और भूतगणों से समाकुल। निशाचरपिशाचरवैः=निशाचर और पिशाच गणों के भीषण शब्दों से। भीष्मम्= भयानक। ईश्वरस्य=भूतपति के। धाम=धाम को (में) प्रवेष्टुम्=प्रवेश करने के लिये। यत् इच्छामि=जो चाहता हूँ। तत् अहम्=अतः मैं। मतिमान् अस्मि= बुद्धिमान हूँ।

श्लोकार्थः—(प्रतीयमान) अहा ! अत्यन्त भीरु स्वभाववाला भी मैं मार्जार (बिलाव) शुकर और शृगालों के से विकराल मुखवाले सैकड़ों बेताल और भूतगणों से समाकुल निशाचर और पिशाचगणों के भीषण शब्दों से भयानक भूतपति के धाम में प्रवेश करना चाहता हूँ, अतः मैं बड़ा ही बुद्धिमान् अर्थात् मूर्खों में शिरोमणि हूँ। [कारण मुझ अत्यन्त भीरु स्वभाव वाले की भयानकतम इस मण्डली से वेष्टित भूतनाथ के धाम में क्या कभी भयनिवृत्ति सम्भव हो सकती है ? यह भाव है।]

वास्तविक अर्थ—अहा संसार से अतीव भयभीत हो मैं मार्जार शूकर और शृगालों के से बड़े-बड़े विकराल मुख वाले शतशः बेताल और भूतगणों से समाकुल, निशाचर और पिशाचगणों के भीषण शब्दों से भयानक शिवधाम में प्रविष्ट होना चाहता हूँ। अतः मैं महाबुद्धिमान् हूँ। (कारण आचार्यों ने कहा भी है कि आपका यह सारा शीलस्वभाव तो है अमङ्गल तथा भयप्रद, किन्तु स्मर्ता और शरणागत के लिये आप परम मङ्गलमय तथा भयहारक हैं)।

विशेषः—यहाँ परिसंख्या अनुप्रास तथा यमक अलङ्कार है।

कर्णेक्षणादचरणात्त्रिफणात्कृतान्त-
पाशात्त्रसन्धृतसहस्रफणोरगेन्द्रम्।
प्राज्ञः सहस्रशिरसं पुरुषं सहस्र-
नेत्रं सहस्रचरणं शरणं श्रयामि ॥११९॥

अन्वयः—अहम् प्राज्ञः कर्णेक्षणात् अचरणात् त्रिफणात् कृतान्तपाशात् त्रसन् धृतसहस्रफणोरगेन्द्रम् सहस्रशिरसम् सहस्रनेत्रम् सहस्रचरणम् पुरुषम् शरणम् श्रयामि।

पदार्थः—अहम्=मैं। प्राज्ञः= (बड़ा), बुद्धिमान् (हूँ)। कर्णेक्षणात्= कर्णौ ईक्षणे यस्य स तस्मात्—नेत्र से ही सुनने वाले। अचरणात्=चरणहीन। त्रिफणात्=तीन फणाओं वाले। कृतान्तपाशात्=यमराज के नागपाश से। त्रसन्= भयभीत होता हुआ। धृतसहस्रफणोरगेन्द्रम्=धृतः सहस्रफण उरगेन्द्रो वासुकिर्येन स तादृशस्तम्—सहस्र फणों वाले सर्पराज को धारण करने वाले। सहस्र-शिरसम्=सहस्र सिर वाले। सहस्रनेत्रम्=सहस्र नेत्रों वाले। सहस्रचरणम्=सहस्र

चरण वाले। पुरुषम्=विराट् पुरुष के। शरण श्रयामि=शरण का आश्रय ले रहा हूँ।

श्लोकार्थः—(प्रतीयमान) अहा मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ (विपरीत जहल्लक्षणा के द्वारा) मैं बड़ा मूर्खं हूँ, जो केवल नेत्रों से सुनने वाले (श्रोत्रहीन) चरणदीन और तीन फणाओं वाले यमराज के नागपाश से भयभीत होता हुआ, सहस्र फणों वाले सर्पराज को धारण करने वाले, सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरणों वाले महापुरुष की शरण ग्रहण कर रहा हूँ। [अर्थात् श्रोत्रहीन पादहीन और तीन फणाओं से युक्त नागपाश से डरने वाला सहस्र श्रोत्र सहस्रपाद और सहस्र फणाओं वाले के पास रक्षार्थ जाय, यह कितनी मूर्खता है]।

वास्तविक अर्थ—अहा मैं बड़ा ही बुद्धिमान हूँ। जो केवल नेत्रों से सुनने वाले (श्रोत्रहीन) चरणहीन और तीन फणाओं वाले काल के नागपाश से भयभीत होता हुआ सहस्र फण सर्पराज वासुकि को धारण करने वाले, विराट् पुरुष महादेव की शरण ले रहा हूँ।

विशेषः—विराट् पुरुष के सहस्र नेत्र तथा सहस्र सिर को प्रमाणित करने वाली श्रुति है—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" इस पद्य में श्लेष वृत्यनुप्रास तथा रूपक अलङ्कार है।

त्रस्तः समस्तजनतापहृतिप्रगल्भा--
द्दीप्तानलोल्वणदृशः शिव जीवितेशात्।
प्राज्ञः समस्तजनतापहृतिप्रगल्भं
त्वां जीवितेशमनलोग्रदृशं श्रयामि ॥१२०॥

अन्वयः—शिव ! समस्तजनतापहृतिप्रगल्भात् दीप्तानलोल्वणदृशः जीवितेशात् त्रस्तः [अहम्] प्राज्ञः समस्तजनतापहृतिप्रगल्भम् अनलोग्रदृशम् त्वाम् जीवितेशम् श्रयामि।

पदार्थः—शिव ! समस्तजनतापहृतिप्रगल्भात्=जनानां समूहो जनता, समस्तजनताया अपहृतिः संहारस्तत्र प्रगल्भस्तस्मात्-समस्त जनता के (अपहृति) संहार करने में प्रवीण। दीप्तानलोल्वणदृशः=दीप्तानलवद् उल्वणे उद्भटे दृशौ यस्य, तस्मात्—प्रदीप्त अग्नि के समान उल्वण नेत्र वाले। जीवितेशाद्=यमराज

से। त्रस्तः=भीत (मैं) प्राज्ञः=बुद्धिमान् (विपरीत लक्षणा से—मूर्ख) समस्तजनतापहृतिप्रगल्भम्=समस्त जनताया अपहृतिः तत्र प्रगल्भः तादृशम्–समस्त जनता का संहार करने में चतुर। (पक्षान्तर में—) समस्तजनानां शिवादिक्षित्यन्तलोकानां तापास्त्रय आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकास्तेषां हृतिस्तत्र प्रगल्भस्तादृशम्—समस्त जनों के संतापों को दूर करने में चतुर। अनलोग्रदृशम्=अनलेनाग्निनोग्रा दृक् तृतीयाक्षिर्यस्य तम्—अग्नि से प्रज्वलित नेत्र वाले। त्वाम्=तुमको। जीवितेशम्=प्राणान्तकारी (पक्षान्तर में— जीवन के आधार का)। श्रयामि=आश्रय लेता हूँ।

श्लोकार्थः—(प्रतीयमान) हे शिव ! मैं महामूर्ख हूँ, जो समस्त जनता का संहार करने में प्रवीण और क्रोधवश प्रदीप्त अग्नि के समान उल्वण नेत्र वाले यमराज से भयभीत होता हुआ समस्त जनता का अपहरण (संहार) करने में प्रवीण और अग्नि से प्रज्वलित नेत्र वाले आप जीवितेश (प्राणान्तकारी) की शरण ले रहा हूँ।

वास्तविक अर्थ—हे मुक्तिप्रदायक शिव ! मैं बड़ा ही बुद्धिमान् हूँ; जो समस्त जनता के संहार में चतुर और क्रोधवश जलती हुई अग्नि के समान नेत्र वाले जीवितेश (काल) से त्रस्त हुआ समस्त जनों के सन्तापों को दूर करने में चतुर और अग्नि के समान नेत्र वाले आप जीवितेश (जीवन के आधार) प्राणनाथ की शरण ले रहा हूँ।

विशेषः—यहाँ श्लेष तथा वृत्त्यनुप्रास है।

निर्भर्त्सितक्रतुमृगं समशिश्रियत्त्वां
संन्यस्तलाञ्छनमृगःकलया मृगाङ्कः।
यत्कामवैरिणमवेत्य सकाम एव
त्वामाश्रितोऽस्मि सुधियामधिकस्ततोऽहम् ॥१२१॥

अन्वयः—(हे विभो !) निर्भर्त्सितक्रतुमृगम् त्वाम् मृगाङ्कः संन्यस्तलाञ्छनमृगः सन् कलया समशिश्रियत् यत् (तु) कामवैरिणम् अवेत्य सकामः एव त्वाम् आश्रितः अस्मि, ततः अहम् सुधियाम् अधिकः ?

पदार्थः—[हे विभो !] निर्भर्त्सितक्रतुमृगम्=(दक्षक्रतुध्वंसने) निर्भर्त्सितो हतः क्रतुरेव मृगो येन स तादृशस्तम्—दक्षप्रजापति के यज्ञ रूप मृग के विध्वंसक। त्वाम्=तुमको। मृगाङ्कः=मृगः अङ्के यस्य स चन्द्रः—चन्द्रमा ने। संन्यस्तलाञ्छनमृगः=(षोडशांशरूपया कलया) सम्यग्रूपेण नितरामस्तो दूरीकृतो लाञ्छनमृगो येन स तादृशः—अपने लाञ्छन (कलङ्करूप) मृग को त्याग कर। सन्। कलया=कलारूपेण। समाशिश्रियत्=आश्रयण किया। यत् तु=जो। कामवैरिणम्=कामदेव का शत्रु। अवेत्य=जानकर। सकामः=साभिलाष होकर। एव=ही। त्वाम्=तुमको। आश्रितः अस्मि=आश्रय ले रहा हूँ। ततः=उस कारण से। अहम्=मैं। सुधियाम् अधिकः=महाबुद्धिमान् हूँ। (विपरीत लक्षणा से—महामूर्ख हूँ)।

श्लोकार्थः—(प्रतीयमान) हे विभो ! दक्ष प्रजापति के यज्ञ रूप मृग के विध्वंसक आपका मृगाङ्क (चन्द्रमा) ने अपने लाञ्छन (कलङ्क रूप) मृग को त्याग करके कलारूप [व्याज] आश्रयण किया, [वह ठीक ही है।] किन्तु मैंने जो आपको कामवैरी (कामदेव का शत्रु) समझकर भी सकाम (साभिलाष) होकर ही आपका आश्रय लिया है, इसलिये मैं बड़ा मूर्ख हूँ। [अर्थात् चन्द्रमा ने सोचा कि मैं तो मृगाङ्क हूँ और प्रभु मृग के वैरी हैं, क्यों कि उन्होंने दक्ष प्रजापति के यज्ञमृग को मार डाला, इसलिये उसने अपना मृगलाञ्छन त्यागकर कलारूप (व्याजतः) आपकी शरण ली, सो तो ठीक है। किन्तु मैं कितना मूर्ख हूँ कि चन्द्र से यह शिक्षा न लेकर आप कामवैरी को सकाम हो (सकाम भाव से) सेवित कर रहा हूँ। मुझे भी चाहिये था कि काम छोड़कर (निष्काम होकर) ही आपकी शरण लेता।

वास्तविक अर्थ—नाथ ! यज्ञमृग को मारने वाले आपको मृगाङ्क (चन्द्रमा) ने लाञ्छन मृग (कलङ्क) का त्याग कर कलारूप (षोडशांशरूप) से समाश्रयण किया, परन्तु मैंने तो आपको कामवैरी समझकर भी सकाम (साभिलाष) होकर ही आपका आश्रय लिया है, अतः मैं महाबुद्धिमान् हूँ। [अर्थात् बेचारे जड चन्द्र को क्या पता कि अनुचित कार्य करने वाले यज्ञमृग के घातक प्रभु का मृगजाति से वैर नहीं। इसीलिये उस वराक ने कलामात्र बन अपना लाञ्छन

मृग मिटा डाला और फिर प्रभु की शरण ली। किन्तु मैं तो महाबुद्धिमान् हूं (कामवैरी) के 'काम' और (सकाम) के 'काम' का स्पष्ट विवेक रखता हूं अतएव सकाम बनकर मेरा कामवैरी का आश्रयण युक्त ही है, यह भाव है।]

विशेषः—यहाँ विरोधाभास वृत्त्यनुप्रास तथा श्लेष अलङ्कार है।

पद्माश्रितः शतधृतिश्चतुराननोऽपि
यस्मात्पराभवमवापदवाच्यमेव ।
त्यक्तः श्रिया गतधृतिर्मृदुमन्दवक्त्रः
प्राज्ञस्तमीश्वरमनुग्रहमर्थयेऽहम् ॥१२२॥

अन्वयः—पद्माश्रितः शतधृतिः चतुराननः अपि यस्मात् अवाच्यम् एव पराभवम् अवापत्, अहम् प्राज्ञः श्रिया त्यक्तः गतधृतिः मृदुमन्दवक्त्रः सन् तम् ईश्वरम् अनुग्रहम् अर्थये।

पदार्थः—पद्माश्रितः=पद्मं निजासनमाश्रितः–कमलासन पर विराजमान (श्लेष के द्वारा) पद्मां लक्ष्मीं श्रितः–लक्ष्मी के आश्रित। शतधृतिः=महाधैर्यशाली चतुराननः=चत्वार्याननानि यस्य सः– चार मुखों वाला अथवा–चतुरमाननं यस्य सः–चतुर मुख वाला। अपि=भी। यस्मात्=जिससे। अवाच्यम्=अकथनीय। पराभवम्=तिरस्कार को। अवापत्=प्राप्त किया। अहम्=मैं। प्राज्ञः बुद्धिमान् (लक्षणा से)–'मूर्ख'। श्रिया त्यक्तः=श्रीहीन। गतधृतिः=धैर्यविहीन मृदुमन्दवक्त्रः सन्=मन्दमुख होकर। तम्=उस। ईश्वरम्=ईश्वर से। अनुग्रहम्= अनुग्रह को। अर्थये=प्रार्थना करता हूँ।

श्लोकार्थः—(प्रतीयमान) ओह! पद्माश्रित (लक्ष्मी का आश्रित) शतधृति (महाधैर्यशाली)और चतुरानन (चतुर मुख वाला) ब्रह्मा भी जिस ईश्वर से अवाच्य पराभव ही (अकथनीय तिरस्कार अर्थात् शिरश्छेद रूप अपमान) पा चुका है, मैं बहुत बड़ा मूर्ख हूँ, जो कि उस ब्रह्मा से विपरीत श्रीहीन (दरिद्र) गतधृति (धैर्यहीन) और अतीव मन्दवक्त्र (अचतुर मुख) होकर भी उस ईश्वर से अनुग्रह की प्रार्थना कर रहा हूँ। क्या मेरी मूर्खता का कुछ ठिकाना है?

वास्तविक अर्थ–अहा ! पद्माश्रित (कमलासन पर विराजमान) शतधृति और चतुरानन (चार मुखों वाला) ब्रह्मा भी जिस प्रभु से महान् पराभव को प्राप्त हुआ अर्थात् उनका पार न पा सका, मैं श्रीहीन, धैर्यविहीन और अतीव मन्दमुख, हूं होकर भी जो उस परमेश्वर से अनुग्रह चाहता हूँ अतः मैं अत्यन्त आतुर हूँ ।

विशेषः—चतुरानन ब्रह्मा के पराभाव की बात श्री पुष्पदन्ताचार्य द्वारा प्रणीत शिवमहिम्नः स्तोत्र में परिलक्षित होती है—

"तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ।"

यहाँ श्लेष तथा अनुप्रास अलङ्कार है ।

आजन्म कर्म विरचय्य फलं यदाप्तं
हृत्वा क्षणात्तदखिलं चिरकालभोग्यम् ।
यः स्वीकरोत्यपुनरागमनाय भक्तं
सेवे तमीश्वरमहो मतिमत्तमोऽहम् ॥१२३॥

अन्वयः—[भक्तेन] आजन्म कर्म विरचय्य यत् फलम् आप्तम् चिरकालभोग्यम् अखिलम् तत् क्षणात् हृत्वा यः भक्तम् अपुनरागमनाय स्वीकरोति, अहो ! अहम् मतिमत्तमः तम् ईश्वरम् सेवे ।

पदार्थः—[भक्त जन के द्वारा] आजन्म=जीवन भर । कर्म । विरचय्य=करके । यत्=जो । फलम् आप्तम्=फल प्राप्त किया । चिरकालभोग्यम्=चिरकाल पर्यन्त उपभोग करने योग्य । अखिलम्=सम्पूर्ण । तत्=उस [कर्मों] को । क्षणात्=क्षणमात्र में । हृत्वा=हरण करके । यः=जो (भगवान्) भक्तम्=भक्त को । अपुनरागमनाय=पुनरावृत्ति से रहित । स्वीकरोति=स्वीकार करता है । अहो ! अहम्=मैं । मतिमत्तमः=महाबुद्धिमान् (लक्षणा से महामूर्ख) तम्=उस । ईश्वरम्=ईश्वर की । सेवे=सेवा कर रहा हूँ ।

श्लोकार्थः—(प्रतीयमान) अहो ! भक्त लोग जन्मभर कर्म कर शुभाशुभ फलों को प्राप्त करते हैं, चिरकाल पर्यन्त उपभोग करने योग्य समस्त फलों को जो क्षणमात्र में अपहरण करके भक्तजनों का अपुनराग कर देता है, अर्थात् पास आना ही बन्द कर देता है, मैं उसी स्वामी की कर रहा हूँ। मैं बड़ा ही बुद्धिमान् अर्थात् महामूर्ख हूँ।

वास्तविक अर्थ—अहा ! भक्तजन आजन्म अनेक शुभाशुभ कर्म कर चिर तक भोग करने योग्य जिस शुभाशुभ फल को प्राप्त करते हैं, उस चिरकाल फल को क्षणमात्र में हरण कर जो भक्तवत्सल प्रभु भक्तों को अपुनराग (पुनरावृत्ति से रहित, आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति रूप मोक्षधाम) को पहुँचा है, मैं उसी दयालु प्रभु की सेवा कर रहा हूँ। अतः मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ।

विशेषः—यहाँ छेकानुप्रास तथा विपरीत लक्षणामूलक ध्वनि है।

श्मशानैकस्थानव्यसनमनलोत्तालनयनं
विषज्योतिर्ज्वालाजटिलकुटिलव्यालवलयम् ।
विभुं मुण्डश्रेणीविकटमुकुटं भीरुहृदयः
श्रयन् भीमं धीमानहमहसनीयः कृतधियाम् ॥१२

अन्वयः—श्मशानैकस्थानव्यसनम् अनलोत्तालनयनम् विषज्योतिर्ज्वा जटिलकुटिलव्यालवलयम् मुण्डश्रेणीविकटमुकुटम् भीमम् विभुम् श्रयन् भीरुहृ अहम् धीमान् कृतधियाम् असहनीयः।

पदार्थः--श्मशानैकस्थानव्यसनम्=श्मशानमेवैकं प्रियतमं स्थानं यस्य त शस्तम्—केवल श्मशानस्थान में निवास करने वाले। अनलोत्तालनयन अनलेनाग्निना उत्तालमुद्भटं नयनं तृतीयं यस्य स तादृशस्तम्—प्रचण्ड अ से प्रज्वलित नेत्रों वाले। विषज्योतिर्ज्वालाजटिलकुटिलव्यालवलयम्=विष तिर्ज्वालाभिः विषाग्निज्वालाभिः जटिलो जटावानिव यः कुटिलो व्याल वासुकिः स एव वलयः कङ्कणं यस्य स तादृशस्तम्—विषज्वाला से जटिल कुटिल सर्प (वासुकि) का कङ्कण धारण करने वाले। मुण्डश्रेणीविकटमुकु मुण्डानां महाप्रलयेषु मृतानां ब्रह्मादीनां ये मुण्डाः कपालास्तेषां श्रेण्येव वि

विस्तीर्णो मुकुटो यस्य स तादृशम्—अतिविकराल मुण्डमालाओं का मुकुट पहनने वाले। भीमम्=भयङ्कर। विभुम्=सर्वव्यापक परमेश्वर का! श्रयन्=आश्रय ग्रहण करता हुआ। भीरुहृदयः=भीरुहृदय वाला। अहम्=मैं। धीमान्=बुद्धिमान् (लक्षणया—मूर्ख।) कृतधियाम्=बुद्धिमानों का। अहसनीयः=हास्य का विषय नहीं हूँ।

श्लोकार्थः—(प्रतीयमान) अहो! मैं अत्यन्त भीरुहृदय होकर भी केवल श्मशान स्थान में निवास करने वाले, प्रचण्ड अग्नि से भीषण नेत्रों वाले, विषरूपी अग्नि ज्वालाओं से जटिल बने कुटिल सर्पों का कङ्कण धारण करने वाले और अति विकराल मुण्डमालाओं का मुकुट पहनने वाले, अत्यन्त भयानक महेश्वर का आश्रय ले रहा हूँ, तो क्या मैं विद्वानों का उपहास पात्र नहीं हूँ? अर्थात् अवश्य हूँ। [यहाँ 'अहसनीयः' पद का यह अर्थ 'काकु' से निकलता है।

वास्तविक अर्थ—अहा! जो मैं अत्यन्त भीरुहृदय होकर भी श्मशान स्थान में प्रीति रखने वाले, अग्नि से प्रज्वलित नेत्रों वाले, विषज्वाला से जटिल बने, कुटिल सर्प (वासुकि) का कङ्कण धारण करने वाले और मस्तक पर विशाल मुण्डमाला धारण करने वाले महाभीम महेश्वर का आश्रय ले रहा हूँ, अतः मैं विद्वज्जनों का सम्माननीय हूँ!

विशेषः—यहाँ द्विरावृत्त वृत्त्यनुप्रास छेकानुप्रास तथा भावध्वनि है। इस पद्य में शिखरिणी छन्द है। जिस पद्य में प्रत्येक चरण में क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु और गुरु हों, उसे 'शिखरिणी' छन्द कहते हैं। इसमें छः और ग्यारह वर्णों पर यति होती है। इसका लक्षण वृत्तरत्नाकर में इस प्रकार है—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।

अहो तत्त्वज्ञोऽहं करतलविलीनैकफणिनः
समुत्त्रस्यन् कालात्क्रमकवलितैकैकभविनः।
महाकालं सर्वावयवसुलभानल्पभुजगं
सकृद्विश्वग्रासप्रवणमतिमभ्येमि शरणम् ॥१२५॥

अन्वयः—अहो करतलविलीनैकफणिनः क्रमवलितैकैकभविनः कालात् समु-

त्रस्यन् अहम् [यत्] सर्वावयवसुलभानल्पभुजगम् सकृद्विश्वग्रासप्रवण
महाकालम् शरणम् अभ्येमि, [तत्] तत्त्वज्ञः अस्मि ।

पदार्थः—अहो !=आश्चर्य बोधक अव्यय । करतलविलीनैकफणिनः=क
विलीन एकः फणी फणिपाशो यस्य स तादृशात्—हाथ में एक सर्प (नाग
को धारण करने वाले । क्रमकवलितैकैकभविनः=क्रमेण यथाक्रमं कवलितो
एक एको भवी देही येन स तादृशात्—क्रमशः एक-एक (प्रत्येक) प्राणी
निगलने वाले । कालात्=यमराज से । समुत्त्रस्यन्=भयभीत । अहम्=मैं
सर्वावयवसुलभानल्पभुजगम्=सर्वावयवेषु करचरणादिषु सुलभा अनल्पा महा
भुजगाः सर्पाः शेषादयो यस्य स तादृशम्—समस्त अवयवों (हाथ पांव
आदि प्रत्येक अङ्ग) में अनेक बड़े-बड़े सर्पों को धारण करने वाले । सकृद्वि
ग्रासप्रवणमतिम्=सकृदेकवारमेव विश्वग्रासप्रवणमतिम्=जगद्ग्रासप्रवृत्तमति
समस्त विश्व को निगल जाने वाले । महाकालम्=महाकाल के । शरणम् अभ्येमि
शरण में जाता हूँ । तत्=उस कारण । तत्त्वज्ञः अस्मि=तत्त्ववेत्ता वि
(लक्षणा से मूर्ख) हूँ ।

श्लोकार्थः—(प्रतीयमान) अहो ! मैं बड़ा ही मूर्ख हूँ जो हाथ में
एक सर्प (नागपाश) को छिपाये रखने वाले और क्रमशः एक एक प्राणी
निगलने वाले काल से भयभीत होता हुआ समस्त अवयवों (हाथ पांव
आदि प्रत्येक अङ्ग) में अनेक सर्प धारण करने और एक ही बार समस्त वि
को निगल जाने वाले महाकाल की शरण में जा रहा हूँ ।

वास्तविक अर्थ—अहा ! मैं हाथ में नागपाश धारण किये और क्रम
प्रत्येक प्राणी को निगलने वाले काल (यमराज) से अतीव भयभीत होता हु
जो प्रत्येक अङ्गों में भुजङ्ग धारण करने वाले और प्रलयकाल में समस्त ब्रह्मा
का ग्रास करने वाले महाकाल (काल के भी काल) भगवान् शङ्कर की शरण
रहा, अतः निश्चय ही तत्त्वज्ञ अर्थात् परमार्थ का जानने वाला हूँ ।

विशेषः—यहाँ व्यतिरेक वृत्त्यनुप्रास तथा छेकानुप्रास अलङ्कार है ।
पद्य में शिखरिणी छन्द है; इसका लक्षण पहले बताया गया है ।

शृङ्गी यत्र स्फटिकशिखरी यत्र शृङ्गी पिनाकः
शृङ्गी सोऽपि स्फुरति वृषभो वल्लभो यत्र भर्तुः।
तत्र त्रस्तः प्रकृतिसरलः स्वल्पवागप्रगल्भः
प्राज्ञः सेवासमयमुचितं स्वामिनः प्रार्थयेऽहम् ॥१२६॥

अन्वयः—यत्र भर्तुः वल्लभः स्फटिकशिखरी शृङ्गी, यत्र च पिनाकः [अपि] शृङ्गी, यत्र च सः वृषभः अपि शृङ्गी स्फुरति, तत्र त्रस्तः प्रकृतिसरलः स्वल्पवाक् अप्रगल्भः अहम् प्राज्ञः, उचितम् सेवासमयं स्वामिनः प्रार्थये।

पदार्थः—यत्र=जहाँ। भर्तुः=स्वामी का। वल्लभः=प्रियतम। स्फटिक-शिखरी=स्फटिक के शिखरों वाला (कैलास पर्वत)। शृङ्गी=शृङ्गम् अस्ति अस्य—सींग (शिखर) वाला, (शब्दश्लेष के बल पर शृङ्गी शब्द गर्वी अर्थ का भी वाचक है-—"शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च गर्वे च" इस प्रकार कोश का वचन है। इस श्लोक में आगत प्रत्येक शृङ्गी शब्द का दोनों अर्थ समझना चाहिये) यत्र च=और जहाँ। पिनाकः=पिनाक धनुष (भी) शृङ्गी=शृंग विनिर्मित है। यत्र च=और जहाँ। सः वृषभः अपि=वह बैल भी। शृङ्गी=दो सींग वाला है। तत्र=वहाँ। त्रस्तः=डरा हुआ। प्रकृतिसरलः=सरल स्वभाव। स्वल्पवाक्=मितभाषी। अप्रगल्भः=अप्रौढ। अहम्=मैं। प्राज्ञः=बुद्धिमात् (पूर्वोक्त क्रम से—मूर्ख)। उचितम्=उचित। सेवासमयम्=सेवा के लिये समय। स्वामिनः=स्वामी का। प्रार्थये=माँग रहा हूँ।

श्लोकार्थः—यहाँ भी कवि ने शब्दश्लेष से बड़ा ही चमत्कार दिखाया है। इस चमत्कार के कारण यहाँ भी दो अर्थ निकलता है।

प्रतीयमान अर्थ—जिस दरबार में शृङ्गी (दर्पोद्धत) स्फटिक शिखरधारी अचेतन पर्वत स्वामी का प्रियतम है, जहाँ शृङ्गी (अहङ्कारी) पिनाक धनुष भी प्रभु का प्रियतम है और जहाँ शृङ्गी (घमण्डी) बैल स्वामी का प्रेमास्पद है अर्थात् ऐसे-ऐसे महा अहङ्कारी लोग रहा करते हैं, उस दरबार में जो मैं प्रभु से सेवा के लिये उचित अवसर माँग रहा हूँ, तो मैं कितना विद्वान् हूँ ? अर्थात् क्या मेरी मूर्खता की कोई सीमा है ?

वास्तविक अर्थ—जिस दरबार में प्रभु का प्रियतम स्फटिक शिखरधारी शृङ्गी (चोटियों वाला) कैलास पर्वत है, जहाँ प्रभु का प्रियतम शृङ्गी (शृङ्ग-विनिर्मित) पिनाक धनुष है और जहाँ प्रभु का प्रियतम वह शृङ्गी (दो सींग वाला) नन्दी वृषभ है, प्रभु के उस दरबार में मैं भीरु, सरलस्वभाव, मितभाषी और अप्रौढ़ पुरुष प्रभु की सेवा के लिये उनसे उचित अवसर माँग रहा हूँ। सचमुच मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ !

विशेषः—यहाँ श्लेष और लुप्तोपमा अलङ्कार है, तथा मन्दाक्रान्ता छन्द है। जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रम से मगण, भगण, नगण, दो तगण और दो गुरु हों, उसे मन्दाक्रान्ता कहते हैं। यति चार, छ और सात वर्णों पर होती है। वृत्तरत्नाकर में इसका लक्षण इस प्रकार है—मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौ नतौ ताद् गुरू चेत्।

विश्रान्तिर्न क्वचिदपि विपद्ग्रीष्मभीष्मोष्मतप्ते
चित्ते वित्ते गलति फलति प्राक्प्रवृत्ते कुवृत्ते।
तेनात्यन्धं सपदि पतितं दीर्घदुःखान्धकूपे
मामुद्धर्तुं प्रभवति भव त्वां दयाब्धिं विना कः ॥१२७॥

अन्वयः—भव ! वित्ते गलति, प्राक्प्रवृत्ते कुवृत्ते फलति [सति] विपद्ग्रीष्मभीष्मोष्मतप्ते चित्ते क्वचित् अपि विश्रान्तिः न अस्ति। तेन अत्यन्धम् दीर्घदुःखान्धकूपे पतितम् माम् सपदि उद्धर्तुम् त्वाम् दयाब्धिम् विना कः प्रभवति ?

पदार्थः—भव=हे विभो ! वित्ते=धन के। गलति=क्षीण हो जाने पर। प्राक्प्रवृत्ते=पूर्व विहित। कुवृत्ते=दुष्कर्म के। फलति सति=फलित होने पर। विपद्ग्रीष्मभीष्मोष्मतप्ते=विपदेव संतापकत्वाद् ग्रीष्मो निदाघस्तस्य भीष्मोष्मणा तप्ते—विपत्ति रूपी ग्रीष्म के अतिप्रचण्ड ताप से तप्त। चित्ते=चित्त में। क्वचित् अपि=कहीं भी। विश्रान्तिः=शान्ति। न अस्ति=नहीं है। तेन=अतः। अत्यन्धम्=अत्यन्त अन्ध। (अत एव) दीर्घदुःखान्धकूपे=दीर्घ दुःख रूपी अन्धकूप में। पतितम्=गिरे हुए। माम्=मुझको। सपदि=शीघ्र। उद्धर्तुम्=उद्धार करने

के लिये। त्वाम्=तुम। दयाब्धिम् विना=दयासागर के विना। कः=कौन। प्रभवति=समर्थ है ?

श्लोकार्थः—हे विभो ! धन क्षीण हो जाने पर और पूर्वजन्मार्जित दुष्कर्मों के फलदानोन्मुख होने पर विपत्ति रूपी ग्रीष्म के अतिप्रचण्ड ताप से तप्त मेरे चित्त में कहीं भो शान्ति नहीं है। इस कारण अत्यन्ध अत एव सम्प्रति दीर्घ दुःखरूपी अन्धकूप में गिरे मुझ पतित का उद्धार करने के लिये एकमात्र आप दयासागर को छोड़ दूसरा कौन समर्थ है ?

विशेषः—इस पद्य में त्रिरावृत्त रूपक तथा वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है। मन्दाक्रान्ता छन्द है।

येषामेषा तनुधनलवप्रार्थनानर्थकन्था
पन्थानं न प्रदिशति परं स्थानमानन्दि लब्धुम्।
तेषामेषामकृपण कृपाभाजनानां जनाना-
माशापाशाकुलितमनसां दृष्टिमिष्टां निधेहि ॥१२८॥

अन्वयः—अकृपण ! एषा तनुधनलवप्रार्थनानर्थकन्था येषाम् परम् आनन्दि स्थानम् लब्धुम् पन्थानम् न प्रदिशति, तेषाम् एषाम् कृपाभाजनानाम् आशा-पाशाकुलितमनसाम् जनानाम् इष्टाम् दृष्टिम् निधेहि।

पदार्थः—अकृपण !=हे वदान्य ! (दानियों में सर्वश्रेष्ठ) एषा=यह। तनु-धनलवप्रार्थनानर्थकन्था=तनुरल्पो यो धनलवस्तस्य याः प्रार्थना याच्ञास्ता एवानर्थकन्था—स्वल्प धन-कण की प्रार्थनारूपी अनर्थपरम्परा। येषाम्=जिसका, परम आनन्दि स्थानम्=परम आनन्दपूर्ण मोक्ष धाम को। लब्धुम्=प्राप्त करने के लिये। पन्थानम्=मार्ग को। न प्रदिशति=नहीं बतलाती। तेषाम्=उन। एषाम्=इन, कृपाभाजनानाम्=(मेरे समान) कृपा योग्य। आशापाशाकुलित-मनसाम्=आशा रूपी पाश से व्याकुल चित्त वाले। जनानाम्=जनों (पर)। इष्टाम् दृष्टिम्=अनुग्रहपूर्ण दृष्टि। निधेहि=डालिये।

श्लोकार्थः—हे दानियों में सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! यह स्वल्प धनकण की प्रार्थनारूपी अनर्थपरम्परा जिन लोगों को परम आनन्दपूर्ण मोक्ष धाम

को प्राप्त करने का मार्ग नहीं बतलाती, उन (मेरे समान) आशा पाशों से व्याकुल चित्त वाले कृपायोग्य दीनजनों को अपनी अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से देखिए।

विशेषः—इस पद्य में छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, रूपक तथा यमक अलङ्कार है। मन्दाक्रान्ता छन्द है।

उदञ्चय मुखं मनागभयघोषमुद्घोषय
प्रयच्छ विशदां दृशं गतिहीनमाश्वासय।
किमन्यदयमागतः कुपितदृष्टिरुत्कन्धरः
कृतान्त इति मा स्म भूरविरलावलेपालसः ॥१२६॥

अन्वयः—[हे विभो !] मनाक् मुखम् उदञ्चय, अभयघोषम् उद्घोषय। विशदाम् दृशम् प्रयच्छ, गतिविहीनम् आश्वासय। किम् अन्यत् (वच्मि) अयम् उत्कन्धरः कुपितदृष्टिः कृतान्तः आगतः इति अविरलावलेपालसः मा स्म भूः।

पदार्थः—[हे विभो !] मनाक्=थोड़ा, तनिक। मुखम्=मुख को। उदञ्चय =प्रकट करो (दिखाओ)। अभयघोषम्=अभय शब्द को। उद्घोषय=उद्घोषित करो। विशदाम्=निर्मल। दृष्टिम्=दृष्टि को। प्रयच्छ=(प्रदान करिये) डालिये। गतिविहीनम्=शरणविहीन को। आश्वासय=आश्वासन दीजिये। किम् अन्यत् [वच्मि]=अधिक क्या कहूँ। अयम्=यह। उत्कन्धरः=उच्चैः कन्धरा यस्य सः—ग्रीवा ऊपर उठाये हुए। कुपितदृष्टिः=क्रोध से विकराल दृष्टि। कृतान्तः =काल। आगतः=आ गया है। इति। अविरलावलेपालसः=अविरलावलेपेन घनावलेपेनालसः=अतिशय उपेक्षावश आलसी। मा स्म भूः=मत हो।

श्लोकार्थः—हे प्रभो ! तनिक मुझे अपना मुखारविन्द दिखाइये और 'मत डरो ! मत डरो !!' ऐसा अभय शब्द सुनाइये। नाथ ! मुझ पर अपनी प्रसाद-निर्मल दृष्टि डालिये और मुझ शरण विहीन को आश्वासन दीजिये। और अधिक क्या कहूँ ? ग्रीवा ऊपर उठाये हुए, क्रोध से विकराल दृष्टि यह काल मुझे ले जाने को आ गया है। इसलिए नाथ ! अब आप मेरे प्रति अतिशय उपेक्षावश आलसी न हो जायँ।

विशेषः—यहाँ छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास है। इस पद्य में पृथ्वी छन्द

है। जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रम से जगण, सगण पुनः जगण, सगण, यगण एक लघु और अन्त में एक गुरु हो उसे 'पृथ्वी' छन्द कहते हैं। यति आठ और नौ वर्णों पर होती है। वृत्तरत्नाकर में इस छन्द का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।

मुहुः किमपरं ब्रुवे भुजगपाशपाणिं पुरः
स्फुरन्तमिव रोषणं रविजकिङ्करं पश्यतः।
धृतिश्चलति मे गतिः स्खलति मूर्तिरुद्वेल्लति
स्थितिर्ज्वलति निर्वृतिर्विगलति स्मृतिर्मीलति ॥१३०॥

अन्वयः—[हे विभो!] मुहुः किम् अपरम् ब्रुवे, रोषणम् भुजगपाशपाणिम् रविजकिङ्करम् पुरः स्फुरन्तम् इव पश्यतः मे धृतिः चलति, गतिः स्खलति, मूर्तिः उद्वेल्लति, स्थितिः ज्वलति, निर्वृतिः विगलति, स्मृतिः मीलति [च]।

पदार्थः—[हे विभो!] मुहुः=बारम्बार। किम् अपरम्=दूसरा क्या। ब्रुवे=कहूँ? रोषणम्=क्रुद्ध। भुजगपाशपाणिम्=नागपाश को हाथ में लिए। रविजकिङ्करम्=यमदूत को। पुरः=सामने। स्फुरन्तम् इव=प्रकट होते हुए से। पश्यतः=देखते हुए। मे=मेरी। धृतिः=धैर्य। चलति=छूट जाता है। गतिः स्खलति=गति लड़खड़ा जाती है। मूर्तिः उद्वेल्लति=शरीर काँप उठता है। स्थितिः ज्वलति=शय्या जलने लगती है। निर्वृतिः विगलति=स्मृति नष्ठ हो जाती है।

श्लोकार्थः—हे प्रभो! आप से बार बार और अधिक क्या कहूँ? अत्यन्त कुपित और नागपाश को हाथ में लिए यम—दूतों को सामने प्रकट होते से देखते हुए मेरा धैर्य छूट जाता है, गति (शक्ति) लड़खड़ा जाती है, शरीर काँप उठता है, शय्या जलने लगती है। सुख मिट जाता है और स्मृति नष्ठ हो जाती है।

विशेषः—यहाँ उपमा उत्प्रेक्षा दीपक तथा अनुप्रास अलङ्कार है। इस पद्य में पृथ्वी छन्द है, इसका लक्षण पूर्व श्लोक में लिखा गया है।

दुर्गं यत्सुगमत्वमेति भजते दूरं यदभ्यर्णतां
यत्क्रीडोपवनत्वमेति मरुभूमित्रायते यद्रिपुः।
यस्याः सा भुवि शक्तिरप्रतिहता सार्तिस्त्वदाक्रन्दने
स्वामिन्मामनुदत्कृपापि नुदतु त्वां मत्समाश्वासने ॥१३१॥

अन्वयः—यत् दुर्गम् (अपि) सुगमत्वम् एति, यत् दूरम् (अपि) अभ्यर्णताम् भजते, यत् मरुभूः (अपि) क्रीडोपवनत्वम् एति, यत् रिपुः (अपि) मित्रायते, भुवि यस्याः सा अप्रतिहता शक्तिः (अस्ति) सा आर्तिः त्वदाक्रन्दने माम् अनुदत् । स्वामिन् मत्समाश्वासने कृपा अपि त्वाम् नुदतु ।

पदार्थः—यत्=जिस (विपत्ति के सामर्थ्य) से । दुर्गम्=दुर्गम (भी) । सुगमत्वम्=सुगमता को । एति=प्राप्त होता है । यत्=जिससे । दूरम् अपि=अत्यन्त दूर भी । अभ्यर्णताम्=सन्निकटता को । भजते=प्राप्त होता है । यत्=जिससे । मरुभूः अपि=मरुस्थल भी । क्रीडोपवनत्वम्=विहार करने योग्य उपवनत्व को । एति=प्राप्त हो जाता है । यत्=जिससे । रिपुः अपि=शत्रु भी । मित्रायते=मित्र की तरह आचरण करने लगता है । भुवि=इस संसार में । यस्याः=जिसकी । सा=वह । अप्रतिहता=अनिर्बाध । शक्तिः अस्ति=शक्ति है । सा आर्तिः=वह विपत्ति । त्वदाक्रन्दने=तुम्हारे प्रति क्रन्दन के विषय में । माम्=मुझे । अनुदत्=प्रेरित किया । स्वामिन्=हे नाथ । मत्समाश्वासने=मेरे आश्वासन के विषय में । कृपा=आपकी कृपा । अपि=भी । त्वाम् नुदतु=आपको प्रेरित करे ।

श्लोकार्थः—हे भगवन् ! जिससे (जिस विपत्ति के सामर्थ्य से) दुर्गम भी सुगम हो जाता है, जिसकी सामर्थ्य से अत्यन्त दूर भी सन्निकट हो जाता है, जिसकी सामर्थ्य से बीहड़ मरुस्थल भी बिहार करने योग्य उपवन (बाग) बन जाता है और जिसकी सामर्थ्य से शत्रु भी मित्र बन जाता है, इस प्रकार संसार में जिसकी शक्ति ऐसी अप्रतिहत (दुर्निवार्य) है, उस विपत्ति ने मुझे आपसे अपना करुण क्रन्दन करने के लिये प्रेरित किया । दयानिधि ! अब मुझे आश्वासन देने के लिये आप की करुणा भी आपको प्रेरित करे ।

विशेषः—यहाँ उपमा, अतिशयोक्ति तथा अनुप्रास अलङ्कार है । यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है । वृत्तरत्नाकर में इस छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

'सूर्याश्वैर्मसजस्ततो सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्। इसका आशय यह है कि जिस पद्य के प्रतिचरण में क्रम से मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और एक गुरु हो, उसे शार्दूलविक्रीडित कहते हैं। यति बारह और सात वर्णों पर होती है।

द्वारि श्रीश्च सरस्वती च वसतः स्वामिस्तवास्तक्रुधौ
मां तु श्रीर्भवदङ्घ्रिविष्टरतले नित्यप्ररुढस्थितिम्।
यावन्मात्रसरस्वतीपरिचयद्वेषादहासीदतो
वह्निं दुर्वहमुद्वहामि हृदये ग्लायन्नुदन्वानिव ॥१३२॥

अन्वयः—स्वामिन्! अस्तक्रुधौ श्रीः च सरस्वती च [तव] द्वारि वसतः। [किन्तु] भवदङ्घ्रिविष्टरतले नित्यप्ररूढस्थितिम् माम् तु यावन्मात्रसरस्वती-परिचयद्वेषात् श्रीः अहासीत् अतः उदन्वान् इव ग्लायन् हृदये दुर्वहम् वह्निम् उद्वहामि।

पदार्थः—स्वामिन्=हे नाथ! अस्तक्रुधौ=गतक्रोध (परस्पर वैरभाव को छोड़कर। श्रीः सरस्वती च=लक्ष्मी और सरस्वती। [तव=तुम्हारे] द्वारि=द्वार पर। वसतः=निवास करती हैं। [किन्तु] भवदङ्घ्रिविष्टरतले=आपके पादासन के तले। नित्यप्ररुढस्थितिम्=नित्यं सदैव प्ररूढा विकसिता स्थिति-र्यस्य स तादृशम्=नित्य बैठने वाले। माम् तु=मुझे। यावन्मात्रसरस्वती-परिचयद्वेषात्=यावन्मात्रं स्वल्पमात्रं यः सरस्वत्याः परिचयस्तस्य द्वेषस्त-स्मात्=सरस्वती से थोड़ा सा परिचय होने के कारण द्वेषवश। श्रीः=लक्ष्मी ने। अहासीत्=त्याग दिया। अतः। उदन्वान् इव=समुद्र के समान। हृदये=हृदय में। दुर्वहम्=अतिदुःसह। वह्निम्=अग्नि को। उद्वहामि=धारण करता हूँ।

श्लोकार्थः—हे प्रभो! लक्ष्मी और सरस्वती दोनों परस्पर वैरभाव को छोड़कर आपके द्वार पर निवास करती हैं। परन्तु सदैव आपके चरण सिंहासन के तले बैठने वाले मुझे सरस्वती से थोड़ा सा परिचय होने के कारण लक्ष्मी ने द्वेषवश त्याग दिया। इसलिये मैं ग्लानि को प्राप्त होता हुआ समुद्र के समान हृदय में अतिदुःसह शोकाग्नि को धारण करता हूँ।

विशेषः—यहाँ पूर्णोपमा वृत्त्यनुप्रास तथा छेकानुप्रास अलङ्कार है। इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

नाथ प्राथमिकं विवेकरहितं तिर्यग्वदस्तं वय-
स्तारुण्यं विहृतं विराधितवधूविस्रम्भणारम्भणैः।
स्वामिन् सम्प्रति जर्जरस्य जरसा यावन्न धावन्नयं
मृत्युः कर्णमुपैति तावदवशं पादाश्रितं पाहि माम् ॥१३३॥

अन्वयः—नाथ ! [मया] प्राथमिकं वयः तिर्यग्वत् विवेकरहितम् अस्तम्। विराधितवधूविस्रम्भणारम्भणैः तारुण्यम् विहृतम् । स्वामिन् ! सम्प्रति जरसा जर्जरस्य [मम] धावन् अयम् मृत्युः यावत् कर्णम् न उपैति, तावदेव अवशम् पादाश्रितम् माम् पाहि ।

पदार्थः—नाथ ! [मया=मेरे द्वारा] प्राथमिकं वयः=प्राथमिक अवस्था (बाल्यकाल) तिर्यग्वत्=पशुवत् । विवेकरहितम्=विवेक के बिना । अस्तम्=बिता दिया गया । विराधितवधूविस्रम्भणारम्भणैः=विराधिता प्रणयकोपयुक्ता चासौ वधूस्तस्या विस्रम्भणमाश्वासनं तस्या आरम्भणम् मुहुर्मुहुः वशीकरणम् तैः—प्रणयकुपिता वधू के समाश्वासन और वश में करने में । तारुण्यम्=युवावस्था । विहृतम्=नष्ट कर दी गयी । स्वामिन् ! सम्प्रति=इस समय। जरसा=वृद्धावस्था से । जर्जरस्य=अत्यन्त जर्जर । (मम=मेरा) धावन्=दौड़ता हुआ । मृत्युः=मृत्यु । यावत्=जब तक । कर्णम् न उपैति=कान के समीप नहीं आ जाता । तावदेव=तब तक ही । अवशम्=अनाथ । पादाश्रितम्=चरणाश्रित (शरणागत) माम्=मुझे । रक्ष=रक्षा करो ।

श्लोकार्थः—हे नाथ ! मैंने बाल्यावस्था तो पशु के समान कार्याकार्य के विवेक के बिना ही बरबाद कर डाली और युवावस्था प्रणयकुपिता वधू के समाश्वावन (मनाने) में नष्ट कर दी । प्रभु अब इस समय वृद्धावस्था से अत्यन्त जर्जर (जीर्ण) हुए मेरे कानों के समीप जब तक अति वेग से दौड़ती हुई वह मृत्यु न आ जाय, उसके पहले ही आप अपने चरणाश्रित मुझ अनाथ की रक्षा कीजिये, मुझे बचा लीजिये ।

विशेषः—यहाँ छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास तथा उपमालङ्कार है। इस पद्य में शार्दूल विक्रीडित छन्द है।

आसीद्यावदखर्वगर्वकरणग्रामाभिरामाकृति-
स्तावन्मोहतमोहतेन न मया श्वभ्रं पुरः प्रेक्षितम्।
अद्याकस्मिकपातकातरमतिः कं प्रार्थये कं श्रये
किं शक्नोमि करोमि किं कुरु कृपामात्मद्रुहं पाहि माम् ॥१३४॥

अन्वयः—[प्रभो।] यावत् [मम] आकृतिः अखर्वगर्वकरणग्रामाभिरामा आसीत्, तावत् मोहतमोहतेन मया पुरः [स्थितम्] श्वभ्रम् न प्रेक्षितम् अद्य आकस्मिकपातकातरमतिः कम् प्रार्थये, कम् श्रये, किम् शक्नोमि, किम् करोमि ? [हे विभो !] कृपाम् कुरु; आत्मद्रुहम् माम् पाहि।

पदार्थः—[नाथ !] यावत्=जब तक। [मम=मेरी] आकृतिः=आकृति। अखर्वगर्वकरणग्रामाभिरामा=अखर्वोऽनल्पो गर्वोऽहङ्कारो यस्य स तादृग् यः करणग्रामः इन्द्रियवर्गस्तेनाभिरामा रम्या—अत्यन्त गर्वित इन्द्रियों से सुमनोहर। आसीत्=थी। तावत्=तब तक। मोहतमोहतेन=मोहरूपी अन्धकार से आक्रान्त। मया=मेरे द्वारा। पुरः स्थितम्=सामने स्थित। श्वभ्रम्=महारन्ध्र (अन्धकूप) "रन्ध्रं श्वभ्रं वपा सुषिः" इत्यमरः। न प्रेक्षितम्=नहीं देखा गया। अद्य=आज। आकस्मिकपातकातरमतिः=आकस्मिको यः पातः पतनं तेन कातरा दीना मतिर्यस्य सः तादृशः—आकस्मिक पतन होने से मेरी मति एकदम कातर हो गयी है। कम्=किसको। प्रार्थये=प्रार्थना करूँ ? कम् श्रये=किसका आश्रय ग्रहण करूँ ? किम् शक्नोमि=कैसे समर्थ होऊँ ? किम् करोमि ?=क्या करूँ ? [हे विभो !] कृपाम् कुरु=कृपा करो। आत्मद्रुहम्=आत्मद्रोही। माम्=मुझे। पाहि=रक्षा करो।

श्लोकार्थः—प्रभो ! जब तक मेरी आकृति अत्यन्त गर्वित इन्द्रियों से सुमनोहर थी (जब तक मेरी इन्द्रियों और शरीर में बल था) तब तक तो मोह रूपी अन्धकार से आक्रान्त मैंने अपने सामने का गड्ढा (अन्धकूप) नहीं देखा। अब आज (वृद्धावस्था में समस्त इन्द्रियों और शरीर की सामर्थ्य से हीन हो

जाने पर) आकस्मिक पतन होने से मेरी मति एकदम कातर हो गयी है [अब ऐसी हालत में] किससे प्रार्थना करूँ, किसकी शरण ग्रहण करूँ, कैसे समर्थ होऊँ और क्या करूँ ? हे पतितपावन ! अब आप ही मुझ अनाथ पर कृपा कीजिये । मुझ आत्मद्रोही की रक्षा कीजिये ।

विशेषः—इस पद्य में छेकानुप्रास वृत्यनुप्रास, रूपक अलङ्कार तथा श्लेषच्छाया है । यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

जात्यन्धः पथि सङ्कटे प्रविचरन्हस्तावलम्बं विना
यातश्चेदवटे निपत्य विपदं तत्रापराधोऽस्य कः ।
धिग्धिङ्मां सति शास्त्रचक्षुषि सति प्रज्ञाप्रदीपे सति
स्निग्धे स्वामिनि मार्गदर्शिनि शठः श्वभ्रे पतत्येव यः ॥१३५॥

अन्वयः—[हे विभो !] जात्यन्धः सङ्कटे पथि हस्तावलम्बम् विना प्रविचरन् अवटे निपत्य विपदम् यातः चेत्, तत्र अस्य कः अपराधः ? [तम्] माम् धिक् धिक् यः शठः शास्त्रचक्षुषि सति प्रज्ञाप्रदीपे सति मार्गदर्शिनि स्निग्धे स्वामिनि च सति श्वभ्रे एव पतति ।

पदार्थः—[हे विभो !] जात्यन्धः=जात्या जन्मनाऽन्धः—कोई जन्मान्ध व्यक्ति । सङ्कटे पथि=सङ्कटमय मार्ग में । हस्तावलम्बम् विना=विना (किसी के) हाथ के सहारे । प्रविचरन्=चलता हुआ । अवटे=प्रपात (गड्ढे) में । निपत्य=गिर कर । विपदम्=विपत्ति (मृत्यु) को । यातः=प्राप्त हो जाय । चेत्= यदि । तत्र=उस (मृत्यु) में । अस्य=इस (जन्मान्ध) का । कः=क्या । अपराधः= अपराध है ? तम् माम्=उस मुझको । धिक् धिक्=बार बार धिक्कार है । यः= जो । शठः=दुष्ट । शास्त्रचक्षुषि=शास्त्ररूपी चक्षु के । सति=होते हुए । प्रज्ञा-प्रदीपे=प्रज्ञा (सद्‌बुद्धि) रूपी दीपक होते हुए । मार्गदर्शिनि=मार्गदर्शक । स्निग्धे=स्नेही (दयालु) स्वामिनि=स्वामी के । सति=होते हुए । श्वभ्रे=अन्ध-कूप में । एव पतति=ही गिरता है ।

श्लोकार्थः—हे नाथ ! यदि कोई जन्मान्ध (नेत्रहीन पुरुष सङ्कटमय मार्ग में विना किसी के हाथ के सहारे चलता हुआ गड्ढे में गिरकर मर जाय, तो इसमें उस बेचारे जन्मान्ध का क्या अपराध है ? अर्थात् वह निन्दापात्र नहीं

हो सकता। किन्तु मुझे तो बार-बार धिक्कार है, जो मैं मूर्ख शास्त्ररूपी [तीसरा] नेत्र होते हुए, प्रज्ञा (सद्बुद्धि) रूपी दीपक होते हुए और सन्मार्ग के दर्शक आप जैसे अतिदयालु स्वामी के होते हुए भी [बार-बार] भवसागररूप अन्धकूप में ही गिरता जाता हूँ।

विशेषः—यहाँ दृष्टान्त, विशेषोक्ति तथा अनुप्रास अलङ्कार है। छन्द शार्दूलविक्रीडित है।

त्राता यत्र न कश्चिदस्ति विषमे तत्र प्रहर्तुं पथि
द्रोग्धारो यदि जाग्रति प्रतिविधिः कस्तत्र शक्यक्रियः।
यत्र त्वं करुणार्णवस्त्रिभुवनत्राणप्रवीणः प्रभु-
स्तत्रापि प्रहरन्ति चेत्परिभवः कस्यैष गर्हावहः ॥१३६॥

अन्वयः—यत्र विषमे पथि कश्चित् अपि त्राता नास्ति तत्र द्रोग्धारः यदि प्रहर्तुम् जाग्रति, तर्हि तत्र कः प्रतिविधिः शक्यक्रियः ? यत्र [तु] त्वम् करुणार्णवः त्रिभुवनत्राणप्रवीणः विभुः [त्राता असि] तत्रापि [द्रोग्धारः] प्रहरन्ति चेत् [तर्हि] एषः परिभवः कस्य गर्हावहः ?

पदार्थः—यत्र=जिस। विषमे=सङ्कटमय। पथि=मार्ग में। कश्चित् अपि= कोई भी। त्राता=रक्षक। नास्ति=नहीं है। तत्र=वहाँ। द्रोग्धारः=द्रोह करने वाले (शत्रु) यदि। प्रहर्तुम्=मारने के लिये। जाग्रति=तत्पर हों। तर्हि=तो। तत्र= वहाँ। कः=कौन। प्रतिविधिः=प्रतीकार। शक्यक्रियः=किया जा सकता है। यत्र=जहाँ। [तु] त्वम्=तुम। करुणार्णवः=करुणा के समुद्र। त्रिभुवनत्राणप्रवीणः= त्रैलोक्य की रक्षा करने में समर्थ। प्रभुः=परमेश्वर। [त्राता असि=रक्षक है] तत्रापि=वहाँ भी। [द्रोग्धारः=शत्रु] प्रहरन्ति चेत्=यदि मारते हैं। [तर्हि=तो] एषः=यह। परिभवः=अपमान। कस्य=किसका। गर्हावहः=निन्दावह होगा ?

श्लोकार्थः—प्रभो ! जिस सङ्कटमय मार्ग में अपना कोई रक्षक न हो, वहाँ यदि शत्रु लोग मारने को तत्पर हों, तो क्या प्रतीकार हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। किन्तु जहाँ त्रैलोक्य की रक्षा करने में समर्थ आप करुणा सिन्धु प्रभु रक्षक विद्यमान हैं, वहाँ भी यदि ये कामक्रोधादि आन्तरिक शत्रुगण

आपके शरणागत को मारते हैं तो शरणागत का यह अपमान किसके लिये निन्दावह होगा ? [इस पर आप ही विचार करिये ।]

विशेष:—यहाँ वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, विभावना तथा रूपक अलङ्कार है । शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

किं शक्तेन न यस्य पूर्णंकरुणापीयूषसिक्तं मनः
किं वा तेन कृपावता परहितं कर्तुं समर्थो न यः ।
शक्तिश्चास्ति कृपा च ते यमभयाद्भीतोऽपि दीनो जनः
प्राप्तो निःशरणः पुरः परमतः स्वामी स्वयं ज्ञास्यति ॥१३७॥

अन्वयः—यस्य पूर्णकरुणापीयूषसिक्तं मनः न अस्ति, तेन शक्तेन [अपि] किम् ? वा यः परहितम् कर्तुम् न समर्थः तेन कृपावता [अपि] किम् ? [हे विभो !] शक्तिः कृपा च ते अस्ति । यमभयात् भीतः निःशरणः दीनः जनः अपि [तव] पुरः प्राप्तः, अतः परम् स्वामी स्वयम् [एव] ज्ञास्यति ।

पदार्थः—यस्य=जिसका । पूर्णकरुणापीयूषसिक्तं मनः=पूर्णा महती या करुणा कृपा सैव पीयूषममृतं तेन सिक्तं मनः—पूर्णकृपारूपी सुधा से आर्द्र अन्तःकरण । न अस्ति=नहीं है । तेन शक्तेन [अपि] किम् ?=उसके शक्ति सम्पन्न होने से क्या ? । वा=अथवा । यः परहितम् कर्तुम् न समर्थः=जो दूसरों का हित करने में समर्थ नहीं है । तेन कृपावता [अपि] किम् ?=उसके अत्यन्त दयालु होने से भी क्या ? [हे विभो !]शक्तिः कृपा च ते अस्ति=शक्ति और कृपा आपके (पास) है । यमभयात्=यमराज के भय से । भीतः=डरा हुआ । निःशरणः=शरण विहीन । दीनः=दीन । जनः=जन । अपि=भी । [तुम्हारे] पुरः=सामने । प्राप्तः=प्राप्त है । अतः परम्=इसके बाद । स्वामी स्वयम् [एव] ज्ञास्यति=स्वामी स्वयं ही जान लेंगे ।

श्लोकार्थः—हे प्रभो ! जिसका हृदय पूर्ण कृपारूपी सुधा से आर्द्र न हो, वह यदि शक्तिसम्पन्न भी हो, तो उससे क्या लाभ ? अर्थात् कुछ भी नहीं । जो पुरुष दूसरे का उपकार करने में समर्थ नहीं, वह यदि अत्यन्त दयालु भी हो, तो उससे भी क्या लाभ ? अर्थात् कुछ भी नहीं । किन्तु हे नाथ !

आपके पास तो पूर्ण शक्ति और अपार कृपा दोनों ही विद्यमान हैं। यमराज के भय से त्रस्त यह शरणहीन दीन (मैं) आपके सामने उपस्थित हूँ। अब इससे आगे प्रभु स्वयं ही जान लेंगे (स्वयं ही अशरण की रक्षा करेंगे)।

विशेषः—इस पद्य में अनुप्रास तथा रूपक अलङ्कार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

भृङ्गारे करपुष्करप्रणयिनि स्वर्निम्नगानिर्झरे
सम्पूर्णे करुणारसे परिणतस्फारे तुषारत्विषि।
अस्ति स्वादु च शीतलं च सुलभं पीयूमोषच्छिदे
प्राप्तश्च प्रणयी पुरः परमतः स्वामी स्वयं ज्ञास्यति ॥१३८॥

अन्वयः—[हे स्वामिन् !] करपुष्करप्रणयिनि भृङ्गारे स्वर्निम्नगानिर्झरे सम्पूर्णे करुणारसे परिणतस्फारे तुषारत्विषि च स्वादु शीतलम् सुलभम् च पीयूषम् ओषच्छिदे अस्ति पुरः [अयम्] प्रणयी च प्राप्तः, अतः परम् स्वामी स्वयम् [एव] ज्ञास्यति।

पदार्थः—[हे स्वामिन् !] करपुष्करप्रणयिनि=कर एव पुष्करं कमलं तत्र प्रणयः प्राप्तिरस्यास्तीति तादृशे—करकमल में स्थित। भृङ्गारे=सुवर्ण-कलश में "भृङ्गारः कनकालुकाः" इत्यमरः। स्वर्निम्नगानिर्झरे=देवगङ्गा के प्रवाह में। सम्पूर्णे करुणारसे=सम्पूर्ण करुणारस में। परिणतस्फारे=परिणतः परिपूर्णः स्फार उल्लासो यस्य स तादृशे—परिपूर्ण उल्लास वाले। तुषारत्विषि=चन्द्रमा में। स्वादु=स्वादिष्ट। शीतलम्=शीतल। सुलभम्=अत्यन्त सुलभ। पीयूषम्=अमृत। ओषच्छिदे=सन्ताप की शान्ति के लिये। अस्ति=है। पुरः=सामने। (यह) प्रणयी च प्राप्तः=(ताप सन्तप्त) याचक भी उपस्थित है। अतः परम्=इसके पश्चात्। स्वामी स्वयम् एव ज्ञास्यति=स्वामी स्वयं ही जान जायेंगे।

श्लोकार्थः—हे प्रभो ! आपने अपने करकमल स्थित सुवर्ण कलश में, जटाजूट में विराजमान देवगङ्गा के प्रवाह में, हृदयस्थ सम्पूर्ण करुणारस में और ललाट पर सुशोभित परिपूर्ण चन्द्रमा में—सबमें सुन्दर, स्वादु, शीतल और अत्यन्त सुलभ अमृत भक्तजनों के संसाररूपी दावानल से उत्पन्न हुए

सन्ताप को शान्त करने के लिए भरा है और यह तापसन्तप्त याचक भी आपके सामने खड़ा है। अब आगे आप स्वयं ही समझ जायँगे। अर्थात् मुझ पर अवश्य कृपा करेंगे।

विशेषः—यहाँ उपमा, छेकानुप्रास, परिकर तथा काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

आर्तिः शल्यनिभा दुनोति हृदयं नो यावदाविष्कृता
सूते लाघवमेव केवलमियं व्यक्ता खलस्याग्रतः।
तस्मात्सर्वविदः कृपामृतनिधेरावेदिता सा विभो—
र्यद्युक्तं कृतमेव तत्परमतः स्वामी स्वयं ज्ञास्यति ॥१३६॥

अन्वयः—शल्यनिभा आर्तिः यावत् [सहृदयस्याग्रे] नो आविष्कृता तावत् इयम् हृदयम् दुनोति, खलस्य अग्रतः व्यक्ता [सती इयम्] केवलम् [वक्तुः] लाघवम् एव सूते। तस्मात् सा सर्वविदः कृपामृतनिधेः विभोः [पुरः मया] आवेदिता। यत् युक्तम् तत् कृतम् एव, अतः परम् स्वामी स्वयम् ज्ञास्यति।

पदार्थः—शल्यनिभा=शल्य (बाण) के समान। आर्तिः=विपत्ति। यावत्=जब तक। [सहृदय के सामने] नो=नहीं। आविष्कृता=प्रकट होती। तावत्=तब तक। इयम्=यह। हृदयम्=हृदय को। दुनोति=दुःख देती है। खलस्य=दुष्ट के। अग्रतः=सामने। व्यक्ता=प्रकट की गयी। (इयम्=यह) केवलम्। वक्तुः। लाघवम् एव सूते=लघुता को ही व्यक्त करती है। तस्मात्=अतः। सा=वह (आर्ति)। सर्वविदः=सर्वज्ञ। कृपामृतनिधेः=करुणा रूपी अमृत के सागर। विभोः=सर्वसमर्थ। पुरः मया=सामने, मेरे द्वारा। आवेदिता=निवेदित कर दी गयी। यत् युक्तम्=जो उचित है। तत् कृतम् एव=वह कर ही दिया गया। अतः परम्=इसके बाद। स्वामी। स्वयम् ज्ञास्यति=स्वयम् जान लेंगे।

श्लोकार्थः—जब तक अपनी आर्ति (विपत्ति) किसी सहृदय दयालु के आगे प्रकट न की जाय, तब तक वह शल्य (बाण) की तरह हृदय को दुःख देती है। यदि वही किसी खल (निर्दय) के सामने प्रकट हो जाय, तो केवल कहने वाले की लघुता को ही व्यक्त करती है। इसलिए नाथ ! मैंने आप सर्वज्ञ (अन्तर्यामी) करुणा-रूपी अमृत के सागर सर्वसमर्थ प्रभु के समक्ष ही उसका

निवेदन किया है। जो उचित था, वह मैंने कर ही दिया, अब आगे आप स्वयं जान लेंगे अर्थात् उसे अवश्य दूर करेंगे।

विशेष।—इस पद्य में उपमा, रूपक तथा छेकानुप्रास अलङ्कार है। शार्दुलविक्रीडित छन्द है।

लेखाः सन्तु प्रसन्ना बुधसदसि शुचेरागमस्यास्तु लब्धि-
र्मिथ्यादृष्टिश्च मा भूदनुपधिरहतो दीर्घकालोऽस्तु भोगः।
सभ्याः सर्वेऽनुवृत्तिं विदधतु तदपि न्यायतो नास्ति मुक्तिः
सम्यग्दर्शी प्रमाता रचयति न भवानीश्वरश्चेद्विचारम् ॥१४०॥

अन्वयः—बुधसदसि लेखाः प्रसन्नाः सन्तु, तथा (बुधसदसि) शुचेः आगमस्य लब्धिः अस्तु। मिथ्यादृष्टिः च मा भूत्, अनुपधिः अहतः दीर्घकालः भोगः अस्तु; सर्वे सभ्याः अनुवृत्तिम् विदधतु। तदपि न्यायतः मुक्तिः नास्ति, [यावत्] सम्यग्दर्शी प्रमाता भवानीश्वरः चेत् विचारम् न रचयति।

पदार्थः—बुधसदसि=देवसभा में। लेखाः=देवता (लिख्यन्ते चित्रे ध्यानार्थं "लेखा अदितिनन्दनाः" इत्यमरः) प्रसन्नाः सन्तु=प्रसन्न हों। तथा। (बुधसदसि=पण्डितों की सभा में) शुचेः=पवित्र (निर्दोष)। आगमस्य=शास्त्र के। अध्ययन का। लब्धिः=लाभ। अस्तु=हो। मिथ्यादृष्टिः=अज्ञान और नास्तिकता मा भूत्=न हो। अनुपधिः=कपटरहित "व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे" इत्यमरः। अहतः=अनाहत। दीर्घकालः=चिरस्थायी। भोगः=भोग। अस्तु=हो। सर्वे सभ्याः=सभी सभ्यजन (विद्वज्जन) अनुवृत्तिम्=(शास्त्रोक्त मार्ग का) अनुसरण। विदधतु=करें। तदपि=तब भी। न्यायतः=न्यायपूर्वक। मुक्तिः=आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति। नास्ति=नहीं हो सकती। यावत्=जब तक। सम्यग्दर्शी=विश्वसाक्षी। प्रमाता। भवानीश्वरः। चेत्=यदि। विचारम्=विचार को। न रचयति=नहीं करता।

श्लोकार्थः—देव सभा में ब्रह्मा, विष्णु आदि देवगण प्रसन्न हों, पण्डितों की सभा में निर्दोष शास्त्र के अध्ययन का लाभ हो। अज्ञान और नास्तिकता न हो, कपट रहित, अत्यन्त चिरस्थायी ऐहिक या आमुष्मिक अखण्ड भोग भी प्राप्त हों और सभी सभ्यजन (विद्वज्जन) शास्त्रोक्त मार्ग का भी अनुसरण करें अर्थात् सब कुछ अनुकूल हो। फिर भी जब तक सम्यग्दर्शी (विश्वसाक्षी)

स्वयं प्रमाता भवानीश्वर भगवान् शङ्कर विचार न करें, तब तक वस्तु मुक्ति (आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति) नहीं हो सकती।

विशेष:—यहाँ अनुप्रास तथा विशेषोक्ति अलङ्कार है। इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द है। वृत्तरत्नाकर में इसका लक्षण इस प्रकार है—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्। अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक चरण में क्रम से मगण रगण भगण नगण तथा तीन यगण हों और यति सात सात वर्णों पर हो उसे स्रग्धरा छन्द कहते हैं।

> जानुभ्यामुपसृत्य रुग्णचरणः को मेरुमारोहति
> श्यामाकामुकबिम्बमम्बरतलादुत्प्लुत्य गृह्णाति कः।
> को वा बालिशभाषितैः प्रभवति प्राप्तुं प्रसादं प्रभो—
> रित्यन्तर्विमृशन्नपीश्वर बलादार्त्यास्मि वाचालितः ॥१४१॥

अन्वय:—ईश्वर! रुग्णचरणः जानुभ्याम् उपसृत्य मेरुम् कः आरोहति? उत्प्लुत्य अम्बरतलात् श्यामाकामुकबिम्बम् कः गृह्णाति? कः बालिशभाषितैः प्रभोः प्रसादम् प्राप्तुम् प्रभवति? इति अन्तः विमृशन् अपि आर्त्या (त्वत्स्तवने) बलात् वाचालितः अस्मि।

पदार्थ:—ईश्वर! रुग्णचरणः=रोगग्रस्त चरणवाला। जानुभ्याम्=घुटनों के द्वारा। उपसृत्य=सरक कर। मेरुम्=मेरुपर्वत पर। कः=कौन। आरोहति=चढ़ सकता है? उत्प्लुत्य=उछल कर। अम्बरतलात्=आकाश तल से। श्यामाकामुकबिम्बम्=चन्द्रमण्डल को। कः=कौन। गृह्णाति=पकड़ सकता है? कः वा=अथवा कौन। बालिशभाषितैः=मूर्खतापूर्ण वचनों से। प्रभोः=प्रभु की। प्रसादम्=प्रसन्नता को। प्राप्तुम्=प्राप्त करने के लिये। प्रभवति=समर्थ होता है? इति=ऐसा। अन्तः विमृशन्=अन्तःकरण में विचार करता हुआ। अपि=भी। आर्त्या=विपत्ति के द्वारा। (त्वत्स्तवने=तुम्हारी स्तुति के विषय में) बलात्=हठात्। वाचालितः=वाचाल कर दिया गया। अस्मि=हूँ।

श्लोकार्थ:—हे ईश्वर! रोगग्रस्त चरणों वाला कौन पुरुष केवल घुटनों के बल चलकर सुमेरु पर्वत पर चढ़ सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं। उछल कर आकाश से चन्द्रमण्डल को कौन पकड़ सकता है? और मूर्खतापूर्ण वचनों

से प्रभु को प्रसन्न करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ? कोई भी नहीं। अतः भगवन् ! इन सब बातों का अपने मन में अच्छी तरह विचार करता हुआ भी मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। क्या करूँ ? इस विपत्ति ने ही मुझे बलात् वाचाल (आपकी स्तुति के लिए उन्मुख) कर दिया है।

विशेष:—इस पद्य में छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास काव्यलिङ्ग तथा दृष्टान्त अलङ्कार है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण श्लोक सं० १३१ पर पहले ही लिखा जा चुका है।

धत्ते पौण्ड्रकशर्करापि कटुतां कण्ठे चिरं चर्विता
वैरस्यं वरनायिकापि कुरुते सक्त्या भृशं सेविता।
उद्वेगं गगनापगापि जनयत्यन्तर्मुहुर्मज्जनाद्
विश्रद्धां मधुरापि पुष्यति कथा दीर्घेति विश्रम्यते ॥१४२॥

अन्वयः—[यथा] पौण्ड्रकशर्करापि चिरम् चर्विता कण्ठे कटुतां धत्ते। वरनायिका अपि सक्त्या भृशम् सेविता वैरस्यम् कुरुते, अन्तः मुहुः मज्जनात् गगनापगा अपि उद्वेगं जनयति [तथैव] मधुरा अपि कथा दीर्घा सती विश्रद्धां पुष्यति, इति [मया] विश्रम्यते।

पदार्थ:-[जिस प्रकार] पौण्ड्रकशर्करा=पुण्ड्र देश में उत्पन्न ईख की शर्करा। "रसाल इक्षुस्तद्भेदाः पौण्ड्रकान्तारकादयः" इत्यमरः पौण्ड्र एवं पौण्ड्रकः। अपि=भी। चिरम् चर्विता=चिरकाल तक चबाने से। कण्ठे=गले में, कटुताम्=कड़वाहट। धत्ते=धारण करती है। वरनायिका अपि=सुन्दर युवती भी! सक्त्या=आसक्ति से। भृशम्=बार-बार। सेविता=सेवित होकर। वैरस्यम्=नीरसता को। कुरुते=उत्पन्न करती है। अन्तः=अन्दर। मुहुः=बार-बार। मज्जनात्=डुबकी लगाने से। गगनापगापि=देवगङ्गा भी। उद्वेगम्=उद्वेग। जनयति=पैदा करने लगती है। [तथैव=उसी प्रकार] मधुरा अपि=मधुर भी। कथा। दीर्घा (सती) लम्बी होने से। विश्रद्धाम्=अश्रद्धा को। पुष्यति=बढ़ाती है। इति=ऐसा (सोचकर)। मया=मेरे द्वारा। विश्रम्यते=विरत हुआ जा रहा है।

श्लोकार्थः—पुण्ड्र देश में उत्पन्न ईख (पौंड़ा) की शर्करा भी चिरकाल तक चबाने पर कण्ठ में कटुता पैदा करती है अर्थात् कड़वी लगने लगती है, सुन्दर युवती भी आसक्ति से दीर्घकाल तक सेवित करने पर अत्यन्त फीकी मालूम पड़ती है और बार-बार अन्दर डुबकी लगाने पर देवगङ्गा भी मन में उद्वेग पैदा करने लगती है। इसी तरह अतिसुन्दर मधुर कथा भी बहुत लम्बी

होने से श्रोताओं के मन में अश्रद्धा पैदा कर देती है, इसलिये नाथ ! मैं भी अब इस करुणाजनक विलाप से विरत होता हूँ।

विशेषः—यहाँ छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा दृष्टान्त अलङ्कार है। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है !

इत्थं तत्तदनन्तसन्ततलसच्चिन्ताशतव्यायत-
व्यामोहव्यसनावसन्नमनसा दीनं यदाक्रन्दितम् ।
तत्कारुण्यनिधे निधेहि हृदये त्वं ह्यन्तरात्माखिलं
वेत्स्यन्तःस्थमतोऽर्हसि प्रणयिनः क्षन्तुं ममातिक्रमम् ॥१४३॥

अन्वयः—इत्थम् तत्तदनन्तसन्ततलसच्चिन्ताशतव्यायतव्यामोहव्यसनावसन्नमनसा [मया] यत् दीनम् आक्रन्दितम्, हे कारुण्यनिधे ! तत् हृदये निधेहि। हि त्वम् अन्तरात्मा अखिलम् अन्तःस्थम् वेत्सि, अतः प्रणयिनः मम अतिक्रमम् क्षन्तुम् अर्हसि ।

पदार्थः—इत्थम्=इस प्रकार। तत्तदनन्तसन्ततलसच्चिन्ताशतव्यायतव्यामोहव्यसनावसन्नमनसा=तान्यनन्तानि सततं लसन्ति यानि चिन्ताशतानि तैर्विशेषेणायतो यो व्यामोहस्तेन व्यसनं तेनावसन्नं सावसादं मनो यस्य स ताहशस्तेन—अनन्त चिन्ता जालों से अहर्निश वृद्धिगत (अतीव विस्तृत) व्यामोह से खिन्न मन वाले। [मया=मेरे द्वारा]। यत्=जो। दीनम् आक्रन्दितम्=दीन आक्रन्दन किया गया है। हे कारुण्यनिधे।=हे करुणासागर ! तत्=उसे। हृदये=हृदय में। निधेहि=रख लीजिये। हि=यतः त्वम्=तुम (आप) अन्तरात्मा=अन्तर्यामी हैं। अखिलम्=सम्पूर्ण। अन्तःस्थम्=हृदय के भाव को। वेत्सि=जानते हैं। अतः। प्रणयिनः=शरणागत। मम=मेरे। अतिक्रमम्=प्रगल्भ व्यवहार को। क्षन्तुम् अर्हसि=क्षमा कर सकते हैं।

श्लोकार्थः—हे प्रभो ! इस प्रकार अनन्त चिन्ताजालों से अहर्निश वृद्धिगत (अतीव विस्तृत) व्यामोह से खिन्न मन से मैंने आपके सामने जो यह दीन आक्रन्दन किया है, हे करुणासागर ! इसे आप अपने हृदय में रख लीजिये। यतः आप अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) हैं, हृदय के सभी भावों को जानते हैं, इसलिये नाथ ! मुझ दीन शरणागत के इस अति प्रागल्भ्ययुक्त व्यवहार (उक्ति) अपराध को क्षमा कर सकते हैं।

इस पद्य में वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास, रूपक तथा यमक अलङ्कार है। इष्टदेवताविषयक भावध्वनि है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है,।

इति काश्मीरक—महाकविश्रीजगद्धरभट्टविरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ दीनाक्रन्दनं नामैकादश स्तोत्रम्। ११

—: प्रकाशक :—

भारतीय विद्या संस्थान

प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता

सी० २७/५९, जगतगंज, वाराणसी – २२१ ००२